अनेकान्त

सम्पादक–जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

विषय-सूची

१	ज्ञानीका विचार—[कविवर द्यानतराय	१०७
२	दशलाक्षणिक धर्मस्वरूप—[कविवर रइधू	१०८
३	'वीतराग-स्तवन' के रचयिता अमर कवि—[श्री अगरचन्द नाहटा	११३
४	दशधर्म और उनका मानव जीवनसे सम्बन्ध— [पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ...	११५
५	उत्तम क्षमा—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री	११६
६	दस लक्षण धर्म-पर्व—[श्री दौलतराम 'मित्र'	१२२
७	उत्तम मार्दव—[श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी ...	१२३
८	सत्य धर्म—[" " ...	१२६
९	शौच-धर्म—[ले० पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य ...	१२९
१०	आर्जव—[अजितकुमार जैन	१३०
११	उत्तम तप—[पी० एन० शास्त्री	१३१
१२	संग्रहकी वृत्ति और त्याग धर्म— [ले० श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ...	१३३
१३	तत्वार्थ-सूत्रका महत्व—[पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ...	१३५
१४	संयम धर्म—[श्री राजकृष्णजी जैन ...	१३९
१५	आकिंचन्य धर्म—[परमानन्द शास्त्री ...	१४०
१६	ब्रह्मचर्य पर श्रीकानजी स्वामीके कुछ विचार— ...	१४२
१७	आत्मा, चेतना या जीवन—[बा० अनन्तप्रसादजी B.Sc.Eng.	१४३

अनेकान्तके ग्राहक बनना और बनाना
प्रत्येक साधर्मी भाईका कर्तव्य है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माता और पुत्रका दुःसह-वियोग !!

अनेकान्त-पाठकोंको यह जानकर दुःख तथा अफसोस हुए बिना नहीं रहेगा कि उनके चिरपरिचित एवं सेवक पं० परमानन्दजी शास्त्रीको हालमें दो दुःसह वियोगोंका सामना करना पड़ा है ! उनकी पूज्य माताजी का ता० २८ अगस्तको शाहगढ़ (सागर) में स्वर्गवास हो गया और उसके तीन दिन बाद (ता० ३१ अगस्तको) उनका सझला पुत्र राजकुमारभी चल बसा !! दोनोंकी मृत्युके समय पंडितजी पहुँच भी नहीं पाए। इस आकस्मिक वियोगसे पंडितजीको जो कष्ट पहुँचा है उसे कौन कह सकता है ? उनकी पत्नीके वियोगको अभी दो वर्ष ही हो पाए थे कि इतने में ये दो नये आघात उनको और पहुँच गये !! विधिकी गति बड़ी विचित्र है, उसे कोई भी जान नहीं पाता। एक सम्यग्ज्ञान अथवा सद्विवेकके बिना दूसरा कोई भी ऐसे कठिन अवसरों पर अपना सहायक और संरक्षक नहीं होता। पंडितजीके इस दुःखमें वीरसेवामन्दिर परिवारकी पूरी सहानुभूति है और हार्दिक भावना है कि दोनों प्राणियोंको परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होवे। साथही पंडितजीका विवेक सविशेष रूपसे जागृत होकर उन्हें पूर्ण धैर्य एवं दिलासा दिलानेमें समर्थ होवे।

श्रीबाहुबलि-जिनपूजा छपकर तय्यार !!

श्री गोम्मटेश्वर बाहुबलिजी की जिस पूजाको उत्तमताके साथ छपानेका विचार गत मई मासकी किरणमें प्रकट किया गया था वह अब संशोधनादिके साथ उत्तम आर्टपेपर पर मोटे टाइपमें फोटो ब्राउन रङ्गीन स्याहीसे छपकर तैयार हो गई है। साथमें श्रीबाहुबली जीका फोटो चित्र भी अपूर्व शोभा दे रहा है। प्रचार की दृष्टिसे मूल्य लागत से भी कम रखा गया है। जिन्हें अपने तथा प्रचारके लिये आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मंगालेवें; क्यों कि कापियाँ थोड़ी ही छपी हैं, १०० कापी एक साथ लेने पर १२) रु० में मिलेंगी। दो कापी तक एक आना पोस्टेज लगता है। १० से कम किसीको वी. पी. से नहीं भेजी जाएंगी।

मैनेजर—'वीरसेवामन्दिर'
१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता —

मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, , देहली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ४	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली भाद्रपद वीरनि० संवत् २४७६, वि० संवत् २०१०	सितम्बर १९५३

ज्ञानी का विचार

(कविवर द्यानतराय)

ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै ।
राज सम्पदा भोग भोगके, बंदी खाना धारै ॥ १ ॥
धन यौवन परिवार आपतैं, ओछो और निहारै ।
दान शील तपभाव आपतैं, ऊँचे माहिं चितारै ॥ २ ॥
दुख आए पै धीर धरै मन, सुख वैराग सम्हारै ।
आतम-दोष देख नित झूरै, गुन लखि गरब विडारै ॥ ३ ॥
आप बड़ाई परकी निन्दा, मुखतैं नाहिं उचारै ।
आप दोष परगुन मुख भाषै, मनतैं शल्य निवारै ॥ ४ ॥
परमारथ विधि तीन योगसौं, हिरदे हरष विथारै ।
और काम न करै जु करै तो, योग एक दो हारै ॥ ५ ॥
गई वस्तु को सोचै नाहीं, आगम चिन्ता जारै ।
वर्तमान वर्तै विवेकसौं, ममता-बुद्धि विसारै ॥ ६ ॥
बालपने विद्या अभ्यासै, जोवन तप विस्तारै ।
वृद्धपने संन्यास लेयकै, आतम काज सँभारै ॥ ७ ॥
छहों दरब नव तत्त्व माहि तैं, चेतन सार निहारै ।
'द्यानत' मगन सदा निज माहीं, आप तरै पर तारै ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशलाक्षणिक धर्मस्वरूप

(कविवर रइधू)

[तेरहवीं शताब्दीके विद्वान कविवर रइधूने जिनकी बनाई हुई दशलक्षण पूजाकी जममाल दशलक्षण पर्वमें प्रायः सर्वत्र पढ़ी और व्याख्यान की जाती है, 'वृत्तसार' (चारित्रसार) नामका एक सुन्दर ग्रन्थ प्रायःप्राकृत भाषामें गाथाबद्ध रचा है, जिसके रचनेमें हालू साहू अग्रवालके पुत्र आढू साहू खास तौरसे प्रेरक हुए हैं और इसलिये जो उन्हींके नामाङ्कित किया गया है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया हैं। इसमें दशलक्षण धर्मके स्वरूप-वर्णन-विषयका एक सर्ग (अंक) ही अलग है, जो प्रकृत विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है और काफी सरल तथा सुबोध है। अतः इस शुभ अवसर पर इसे यहाँ उद्धृत किया जाता है। पूरे ग्रन्थको वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशनका भी विचार चल रहा है।

—सम्पादक]

उत्तम-क्षमा

असमत्थेण जि विहिदं उवसग्गं जइ सहेइ सु-समत्थो।
ता होइ उत्तमा सा खमा जि सग्गालणिस्सेणि ॥१॥
चिरकियकम्में सुहु-दुहु लम्भइ चित्तम्मि एवमण्णंतो।
णो रज्जदि णो कुद्धदि उत्तमखम भावदे णिच्चं ॥ २
णीयजणहिं अवगणिदो उत्तमुसाहूवि झाण-सामत्थं।
णो कुद्धदि तस्सोवरि सकम्म-विलयं वियाणंतो ॥३॥
तव-संजम-आरामं चिरकालेणावि पालिदं फलदं।
तं कोहग्गिउदिण्णा पज्जालयदीह लीलेव ।।४॥
कोहंधु डहइ पढमं अप्पाणं एत्थु संजमाधारं।
अण्णस्स डहदि णो वा इदि मणिणवि तं ण कायव्वं ॥५
उक्तंच-दंसणणाणचरित्तहिं अणग्घरयणेहि पूरियं सदृदं
मणकास लुंटिज्जइ कसायचोरेहिं कयाणिच्छं ॥६॥
विहु लायस्स विरुद्धं दुग्गइ गमणस्स सहयरं णिच्चं।
तं कोहं मुणिणाहे उत्तम खमयाए जेयव्वं ॥७॥
जो उवसग्गु वियंभिवि कम्म-गदं मज्झ फेडई विविहं।
सो णिक्कारणमित्तो तस्स रुसंतो ण लज्जेमि ॥८॥
महु कय-कम्मं णासइ अप्पाण विणासएदि परलोयं।
जोसइं दुग्गइ णिवडइ तहु रूसंता ण सहेइ ॥९॥
सिवमग्गि गम्ममाणे मज्झु परिक्खा कारणे विग्घा।
संजादा अइविसमा इय मणिणविणो खमा चत्ता ॥१०
जइजि परीसह-संगरि-कसाय-सुहडेण ताडमाणेण।
जइ खमदुग्गं छंडसि ता खयजामीह कयाणिच्छं ॥११॥
मिच्छाइट्ठी मूढो जइ सो पीडेइ ता जि णवि दोसो।
जं हउं विवेय-जुत्तो कोहं गच्छेमि तंपि णो णाओ॥१२॥
जइ दुव्वयणं जंपिवि मज्झु सुही होइ दुज्जणो दोसी।
ता महु जीवियव्वं सहलं भवदीह लोयम्मि ॥१३॥
कम्मोदए पवण्णो भव्वु वियारेइ एम णियचित्ते।
एहु वि णो अण्णाओ कियकम्मं जं फलं देइ ॥१४॥
जं मइं चिरभवि विहिदं सुहासुहं कम्म तंजि सुहदुक्खं।
देइजि णियमादो इह णिमित्तमत्तं पुणो अण्णो ॥१५॥
महु उतमखम णिसुणिवि वइरियणा छेय-भेयणाईहिं।
तं पेक्खु णत्थि आया खणु वि म छंडेहि सा धीरा ॥१६
हउं महवय-भर-कुसलो विवेय-जुत्तो वि पावणो संतो।
णिम्ममओ वि णियकाए कोहं गच्छंतु लज्जेमि ॥१७॥
जह जह कुवि उवसग्गो करेइ सवणस्स तह तहं चेव।
उत्तमखमा सुवण्णं अहिययरं णिम्मलं होइ ॥१८॥
जं पुणकारणजादे खमागुणं होइ तं ज कय-संसं।
णिक्कारणेण कोई अत्थि खमा-वज्जिदो लोगो ॥१९॥
तव-संजम-सीलाणं जणणी कोहग्गि-ताव-घण-विट्ठी
सिवगइ बहुहि सहिल्ली उत्तमखम पावणा किच्चा।
जो गुरुयणाणदासं लज्जा-भय-गारव-वसादो ऊ।
सहइ ण सा उत्तमखमा तंजि खमा णाममत्त य ॥२१॥
हउ कोसिदो ण णिहदा णिहदोवि ण मारिदो य दयचत्तें
मरणे पत्तु वि तहवि हु ण कोहयामीदि मे बुद्धा ॥२२॥

उत्तम-मादव

माणकसाएं छंडिवि किज्जइ परिणामु कोमलं जत्थ।
सव्वहं हिउ चिंतिज्जइ मद्दवगुणभासिदो तत्थ ॥२३॥
संजम-वय-तव-मूलं पसत्थ-धम्मस्स कारणं पढमं।
चित्तविसुद्धीहेदो मद्दवंअंगो य कायव्वो ॥२४॥
काइय वाइय तह पुणु माणसियं होइ विणउ तिहुभेए।
मद्दवजुत्तणराणं तंचेव जि पायडं होदि ॥२५
उक्तंच-कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुयणे य बहुमाणं
तित्थयराणं आणा गुण-गहणं मद्दवं होइ ॥२६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम-आर्जव

अज्जवणामेण गुणं मायासल्लस्स होइ णिण्णासे ।
मण-परिणाम-विसुद्धी तेण विणा णेव संभवइ ॥२७
जं किंचिजि णियमाणसि चिंतदि भव्वो य तंजि वयणेण
लोयहं अग्गइ अक्खइ तमज्जवं णाम धम्मंगं ॥२८॥
रिजु परिणामं अज्जव सुहगइ-गमणस्स कारणं तं जि ।
मणकूरत्तं पावं दुग्गइ-पह संबलं त चि ॥२९॥
जिह सिसु णियघरवत्थू पुच्छंताणं-णराणमहियाणं ।
घरमम्मु सच्चु अक्खइ तिह अज्जवधम्मसंजुत्तो ॥३०
इह पर लोयहि यत्तं माया-चत्तं हि अज्जवं धम्मं ।
तं पालिज्जइ भव्वें सिव-पय-गमणाउरेणेव ॥३१॥
अज्जव धम्महु मूलं सज्झाणसिद्धीयरं हि तवसारं ।
त ण विणा गुणवंतु वि समाइउ वुच्चदे लोए ॥३२॥
चेयणरूवमखंडं विगयवियप्पं सहावसंसिद्धं ।
णाणमउ अप्पाणं अज्जवभावेण विप्फुरदि ॥३३॥

उत्तम-सत्य

अलियाला वयणीह अदंतुरा मम्मछेयणे णिच्चं ।
लोहेण कलुसिदा जा ण हवदि जीहाय सा छुरिया ॥ ४
जसु वयणादो वयणं अलियं णिग्गमइ तं जि णउ वयणं
विवरसमाणं णेयं जीहा अहिणी णिवासत्थे ॥ ३५
ही हो अलियपभासी परसंतावीय णिंदयारीय ।
सुविहाणे तस्सेव जि णामग्गहणं ण कायव्वं ॥३६॥
जो पुणु भणदि असच्चं णासदि तस्सेव संजमं सीलं ।
परमअहिंसाधम्मं हवइ ण तं भव्व मोत्तव्वं ॥३७॥
णउ भासिज्जइ अलियं भासा विज्जइ ण अण्णु णरुमंडि
भासिज्जं तु सचित्ते अणुमणणं णेव कायव्वं ॥३८॥
जइ हुइ पुत्तविओवो भामिणि घर लच्छि जईंज विहडेइ
णियपाणविज्जई गच्छहि तहावि णो भासदेसच्चं ॥३९॥
सच्चेण णरो लोयहि देवसमाणो वि मण्णदे एत्थु ।
झाणाभयणं तं तं मतं सुत्तं पविप्फुरदे ॥ ४० ॥
परदोसं जो पयडइ णियगुण अणहांत लोएक्कित्थरदे ।
णिंदइ संजमिणियरं तंपि असच्चं महादोसं ॥४१॥
जं परसवणहं सूलं हिंसामूलं हि जं जि पावड्ढं ।
परमम्मोच्चेडणयं सच्चमवीदं असच्चं तं ॥४२॥
सच्चं तं बोल्लिज्जइ उवएसिज्जेह तंजि फुडु सच्चं ।
आयरणिज्जं सच्चं तेण जुदं सव्वु सकियत्थं ॥४३॥

उत्तम-शौच

परवत्थुलोहरहिदो चित्तो भव्वस्स होइ पुण जइया ।
तइया सोचं णेयं ण तित्थजल-खालणे सोचं ॥४४॥
मिच्छत्तमलविलित्तो विसयकसाएहिं मुज्झिदो जीवो ।
तित्थजलेण विण्हाणें किह सोचो होदि भो आदू ॥४५
परधणपरबहुसंगे जं जिच्छिहा ताहि चाए तं धम्मो ।
पावस्स मूलुलोहो तम्हा लोहो ण कायव्वो ॥ ४६ ॥
जो पुणु वय-तव-सुद्धो देहाइय दव्य-णिम्ममो संतो ।
सो रय-मलिणु वि देहे परमसुई णिम्मलो सिट्ठो ॥४७॥
देहो बहुमलकिण्णो जलभारें ण्हाविदो ण सुज्झेइ ।
मज्जपओरिउ कुंभो बाहिरपक्खालिदोपि सोअसुइ ॥४८
केस णह-दंत आई चेयणसंगेण तेवि सुपवित्ता ।
कप्पूराइवि दव्वा भव्वबि मालिणाय देहस्स ॥४९॥

उत्तम-सयम

तस-थावर-जीवाणं मणवयकाएण रक्खणं जत्थ ।
पाणासंजम णामं हवइ धुओ पावणो तत्थ ॥५०॥
पंचिंदियमणुछठ्ठउ सग सग-विसएसु णिच्च धावंतो ।
रुंधिविजहिं धारिज्जहिं-इंदियसंजमं होइ ॥५१॥
संभायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि
सूक्ष्मसांपराययथाऽख्यातभेदेन संयमः पंचविधोभवति
सावज्जकिरियविरमणलक्खणपरिणामशुद्धियरणं हिं ।
चारित्त भारधरण सामाइय णाम तं णेयं ॥ ५२ ॥
आप्पसरुवि सचितो जंठाविज्जइ खणे खणे खलिदो ।
छेदोवट्टवणयं चरणं तं चेव णायव्वं ॥५३॥
पडि दिण गाओ मत्तं विहरदि मोहक्खएण सीलट्ठो ।
कारणु किंचि लहेप्पिणु तिट्ठई छम्मास एक्कपाएण ॥५४
परिणामसुद्धिहेदो णिवसंतो अयणु माणु सो सवणो ।
पावदि केवलणाणं णहचारणरिद्धिवासा हू ॥ ५५॥
इदि परिहारविशुद्धी चरियं सुहमंति संपरायंहि ।
उवसमियकसायखएण दु दहमे गुणठाणितुरियंहि ॥५६
चरित्तमोहपयडी खीयंति मुणीसरस्स सज्झाणें ।
जहिं रिद्धि लद्धि तत्थजि जहखायं संजमं होदि ॥५७॥
छट्ठम गुणसु पढमं छह सग वसु णवमि विदिय पुणतिदियं
दहमगुणठाणि तुरियं सेसठ्ठाणे जहाखायं ॥५८॥

उत्तम-तप

णरभउ पाविवि दुलहं कुलं विशुद्धं लहेवि वरबुद्धी ।
घरमोहं मेल्लेप्पिणु तवं पावरुं हि कायव्व ॥५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बज्झब्भंतरभेएं तवं तवंतीह भव्व णिम्मोहा ।
अप्पाणं झावंति य लहंति णिरु सासयं सुक्खं ॥६०॥
वरिसाले तरुमूले सिसरे चहुहट्ट गिम्हि गिरिसिहरे ।
झाणे ठंता भव्वा तवं तवंतीह सत्तीए ॥६१॥
तवेण जि दंसणु सोहइ णाणं सोहेइ तेण सुयसयलं ।
जिह कणय कडय लग्गो रयणु अणग्घो य सोहेइ ॥६२॥

उत्तम-त्याग

धम्मतरुस्स जि बीयं गुणगणधामंजस्सस्स वित्थरणं ।
चायं कायव्वं इह भव्वेण जि जम्मभीदेण ॥ २॥
दुल्लहयरे जि णरभवि सिविणसभाणेवि जीविदेवित्ते ।
जो ण वि करेइ चाएं सो मूढो वंचिओ विहिणा ॥६३॥
जं भायणेण णट्ठं पुत्तकलत्ताइ पोसणत्थेण ।
जं वित्तं तं णट्ठं थक्कइ थिरु पत्तकयदाणं ॥६४॥
असम किलेसहिं जं धणु समज्जियं रक्खियं पि जयणेण
तस्स फलं मुणिचाएं होइ फुडं तेण विणु विहलं ६५॥
मोक्खस्स हेदुभूदं तवं पवित्तं सझाणणाणंच ।
सिज्झइ काए हांति तस्स ठिदी अण्णदो सिट्ठा ॥६६॥
गेहत्थ भव्व सावय पत्तत्ति-भेएसु चारिवरदाणं ।
जच्छंति णिच्च सुहदं तं चाएं भासिदंसुत्ते ॥६७॥
धम्मकखाणं भव्वहं सिस्साणं पाठणं च उवएसं ।
मग्गपवट्टण करणं अणयाराणं हि तं चाएं ॥६८॥
अहवा दुट्ठ वियप्पं उप्पज्जं ताण जं जि परिचाओ ।
तं पुण परमं चाएं कायव्वं अप्पसिद्धीए ॥६९॥

उत्तम-आकिंचन्य

सयलाणं संगाणं जत्थ अहावो हवेइ दुविहाणं
णियदव्वे सुविरत्तो आकिंचणु धम्मु तं णेओ॥७०॥
सयल-वियप्प-विरहिदो अणंतणाणाइधम्मसंपुण्णो ।
सुद्धो चेयणरूवो जीवो आइंचणो णडऽणो ॥७१॥
दव्वाण पयत्थाणं तच्चाणं भेयलक्खणं णाओ ।
चेयणरूपं गिण्हदि तमकिंचण धम्ममवि सिद्धं॥७२॥
जिह किट्टियम्मि मिलिदो कणउ असुद्धो ण होइ-
णिच्छयदो ।
तिह कम्मदेहमिलिदो अप्पा मलिणो ण कइया वि॥७३॥
चेयण अचेयणं गुणु मुणि वि उवादेय हेय जो भव्वो ।
भावदि णाणसरुवं तमकिंचण भासियं धम्मं ॥७४॥

उत्तम-ब्रह्मचर्य

परमो बंभो जीवो सरीरविसएहिं वज्जिदो णिच्चं ।
तस्सायरणं पुणु पुणु तं धम्मं बंभचेरक्खं ॥७५॥
जुवई संगं जत्थ जि मणवयकाएण णिच्च चयणिज्जं ।
तत्थेव बंभवज्जँ भणंति सूरी जुदा तेण ॥७६॥
तव-णियम-संजमाणि य कालकिलेसाणि भूरिभेयाणि ।
बभंवएण विहूणा वीलियराणीह सव्वाणि ॥७७॥
सिद्धंतसत्थाणिरुणा कईयमंदा हवेइ कामिस्स ।
विणयायारादिय तह णासंति अबभचारिस्स ॥७८॥
जइ बंभवयस्स कहमवि सिविणे मत्ते वि एइ अइयारो ।
पायच्छित्ते भव्वा तावदु सोहंति अप्पाणं ॥७९॥
जे तव-वय-मज्जायं उल्लंघि वि सेवदीह तिय-सुक्खं ।
लाहं समाणा अहमा णो अण्णा अत्थि तिल्लोए ॥८०॥
मणसंभूदं मयणं मणविक्खेवेण तस्स वित्थारो ।
तं ठाविदं सरुवे जइवर विंदेहिं केम वयभंगो ॥८१॥
जेहिवसीकउ चित्तो मित्तो वेरग्गु तच्च अब्भासो ।
ताहं चिह बंभव्वउ कयाइ वियलेइ णो लाए ॥८२॥
मणविक्खेवणयारी महिला तहि संगि केम वयसुद्धी ।
वयभंगेण वराओ भमदि भवे चउगई दुग्गे ॥८३॥
उक्तं च–जूकाधामकचाः कपालमजिनाच्छादंमुखंयोषिताँ
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू ततेकीकसे ।
पुंदं मूत्रमलादिसद्मजघनं प्रस्पंदिवर्चो गृहं ।
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥८५॥
रायंधो जणणियरो महिलामुहलालपान आसत्तो ।
चंदमुही इदि मण्णिवि पयासए ताहि गुणरूवं ॥८६॥
ते ण कई णो सवणा णेव बुहा णाणझाणधराणो ।
जे पुणु सराय भावें महिलारुवं पवण्णंति ॥८७॥
साहीण-सुहं छंडिवि परआसिदसुक्खे करइ जो राओ।
अमियरसं मेल्लिवि सो पिवदि विसं पाणखययारो॥८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भक्तियोग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं—सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादि-कालसे जीवोंके साथ कममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियां आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ आवर्कासत हैं और वे परतन्त्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नज़र आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको विभाव-परिणति' कहते हैं। जब तक किसी जीवकी यह विभाव परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है; जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसारपरिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं, अथवा अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बांटा जा सकता है। और इसलिए जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्यहैं जो अविक-सित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव परिण-तिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिए आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें बर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। विना अनु-रागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, विना परिचयके अनुराग बढ़ा नहीं जा सकता और विना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महा पुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये-उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मान-कर उनके नक़शे क़दम पर चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओं पर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्या-णका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिए आत्माका अनुभवन और मनन है, हम 'सोऽहं' की भावनाद्वारा उसे अपने जीवनमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी गरज नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिए की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र' लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्याग पूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीका निर्दिष्ट किया है और इसी लिये स्तुति वन्दनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टि पुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढ़ि आदिके वश होकर करनसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके विना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एव भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

श्री पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'वीतराग-स्तवन' के रचयिता अमर कवि

(श्री अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्त वर्ष १२ किरण ३ के प्रथम पृष्ट पर अमर-कवि-रचित 'वीतराग-स्तवनम्' प्रकाशित हुआ है। महावीर-जी अतिशय क्षेत्रके शास्त्र-भंडारकी सं० १८२७ की लिखित प्रतिसे नकल करके इसे प्रकाशित किया गया है। सम्पाद-कीय नोटमें इसके रचयिताके सम्बन्धमें लिखा है कि— "इसके कर्ता अमरकवि, जिनके लिये पुष्पिकामें 'वेणी कृपाण' विशेषण लगाया गया है, कब हुए है और उनकी दूसरी रचनायें कौन-कौन हैं यह अभी अज्ञात है। ग्रन्थ प्रति सं० १८२७ की लिखी हुई है अतः यह स्तवन इसके पूर्वकी रचना है इतना तो स्पष्ट ही है, परन्तु कितने पूर्वकी है यह अन्वेषणीय है।"

इस सम्पादकीय टिप्पणीको पढ़ते ही 'वेणीकृपाण' विशेषण वाले श्वेताम्बर बायड़गच्छीय जिनदत्तसूरिके शिष्य कवि चक्रवर्त्ती अमरचन्दका स्मरण हो आया। यह स्त्रोत्र भी सम्भव है किसी श्वेताम्बर जैनस्तोत्रसंग्रहमें प्रकाशित हो चुका हो-इस विचारसे 'जैनस्तोत्रसंदोह' प्रथम भागके अंतमें प्रकाशित जैनस्तोत्रोंकी सूची छपी है उसे देखने पर विदित हुआ कि यह स्तोत्र भ्रातृचन्द्र ग्रन्थमाला अहमदाबादसे प्रकाशित जिनेन्द्रनमस्कारादि संग्रहमें प्रका-शित होने के साथ-साथ प्रस्तुत जैनस्तोत्रसंदोह प्रथम भाग-में भी छपा है। इन दोनों ग्रन्थोंमें यह 'सर्वजिनस्तव' के नामसे अज्ञात रचयिता (निर्माणकार) के उल्लेखसह छपा है। परन्तु इस जैनस्तोत्रसंदोह ग्रन्थमें प्रकाशित स्तोत्रोंकी अनुक्रमणिकाको देखने पर वहाँ रचयिताका नाम 'अमर-चन्द्रसूरि' लिखा हुआ मिला। इससे विदित होता है कि इस ग्रन्थके पृ० २६ में जब इस स्तोत्रका मुद्रण हुआ तब इसके रचयिताका नाम ज्ञात न हो सका था, परन्तु इसके सम्पादक चतुरविजयजीको इस ग्रन्थकी अनुक्रमणिका तैयार होनेके समय इसके रचयिताके नामका आधार मिल गया। इसीलिये प्रस्तावनामें स्तोत्रकारोंका परिचय देते हुए अमरचन्द्रसूरिका परिचय भी दिया गया है। अनेकान्तके सम्पादक और पाठकोंकी जानकारीके लिये इस स्तोत्रके रचयिता अमरचन्द्र कविका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ। विशेष जाननेके लिये आपके जो तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं उनकी प्रस्तावना देखना चाहिये।

कवि अमरचन्द्रका समकालीन ग्रन्थकारोंमें सबसे पहला उल्लेख सं० १३३४ में रचित प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित्रमें पाया जाता है। इस ग्रन्थके जीवदेवसूरि-प्रबन्धके अन्तमें कहा गया है "जिनके वंशमें आज भी अमर जैसे तेजस्वी प्रभावक हैं" श्लोक इस प्रकार है— "अद्यापि तत्प्रभावेण तस्य वंशे कलानिधिः भवे प्रभावक-सूरिरमराभ स्वतेजसा ॥२००॥' इस उल्लेखसे मुनि कल्या-णविजयजीने आत्मानन्द जैनसभा भावनगरसे प्रकाशित इस ग्रन्थकी गुजराती अनुवादके पर्यालोचनमें यह सूचित किया है कि सं० १३३४ तक जबकि यह प्रभावकचरित्र बना, कवि अमरचन्द विद्यमान थे। इसीलिये 'अद्यापि' शब्द व्यवहृत हुआ है। इस उल्लेखसे इस कविकी-प्रसिद्धि व महत्वका भली भांति पता लग जाता है। सम-कालीन विद्वान् उस वंशके महत्वको बतलानेके लिये उस वंशके तेजस्वी नक्षत्रके रूपमें कवि अमरचन्द्रका नामोल्लेख करता है यह उनके लिये कम गौरवकी बात नहीं।

सं० १४०५ में रचित प्रबन्धकोश' अपरनाम 'चतु-र्विंशतिप्रबन्ध' में तो इस कविका परिचायक स्वतंत्र प्रबंध (१३) ही पाया जाता है। उस प्रबन्धके अनुसार वायड़-गच्छके परकायप्रवेश विद्यासम्पन्न जीवदेवसूरि (जिनका प्रबन्ध भी इसी ग्रंथमें है) के सतानीय जिनदत्तसूरिके बुद्धिमानोंमें चूड़ामणि आप सुशिष्य थे। कविराज अरिसिंह-से इन्हें 'सिद्धसारस्वत' मंत्र मिला, जिसकी आराधना २१ दिन तक आचाम्ल तपके साथ निद्राजय, आसनजय, कषाय-जय करते हुए एकाग्र चित्तसे की थी। स्वगच्छके महा-भक्त विवेकके भंडार रूप कोष्टागारिक पद्मश्रावकके भवन-के एकान्त भागमें साधना करते हुए आप पर सरस्वतीदेवी प्रसन्न हुई और २१ वें दिन प्रत्यक्ष प्रगट होकर अपने कमंडलुका जल पिलाते हुए इन्हें वरदान दिया कि 'तू सिद्ध कवि और राजमान्य होगा।' हुआ भी वैसा ही।

आपने काव्यकल्पलता (कविशिक्षा), छंदोरत्नावली, सूक्तावली, कलाकलाप एवं बालभारत नामक ग्रन्थोंकी रचना की। बालभारतके सर्ग ११ श्लोक ६ में प्रभात समयका वर्णन करते हुए आपने इस भावको दर्शाया है महादेवकी तपःसाधनासे कामदेव हतप्रभाव हो चुका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था, पर दही विलोती हुई स्त्रियोंकी वेणीका इधर उधर घूमती हुई देखकर मालूम होता है कि मदन पुनः अपना प्रभाव विस्तार करता हुआ मानो तलवार चला रहा है। वेणी कृपाणके दृष्टान्त रूप अनोखी सूझको देखकर कवियों ने इनका विरुद 'वेणीकृपाण' के नामसे प्रसिद्ध कर दिया।

महाराष्ट्रमें आप राजाओंसे पूजित हुए और महाकविरूपमें ख्याति प्राप्त की, जिसे सुनकर विद्याप्रेमी गूर्जरेश्वर वीसलदेवने अपने प्रधान वैजलाको भेजकर अपनी राजधानी धवलक में बुलाया। जिस दिन आप सभामें उपस्थित हुए राजकवियोंने विविध विचित्र समस्यायें देकर आपकी कविप्रतिमाकी परीक्षा ली। प्रबंधकोषमें कहा गया है कि इस विद्याविनोदमें राजसभा के लोग इतना काव्य-रसानुभव करने लगे कि सभासदों और राजाने उसदिनका भोजन भी नहीं किया। कवि अमरके काव्य-रसके आस्वादसे मानों उनका उदर लबालब भर गया। १०८ समस्याओंकी पूर्ति करके आपने मंडली और राजाको चमत्कृत कर दिया। फिर तो राजसभामें आपका बड़ा सम्मान होने लगा और इनके विशेष प्रभाव एवं समागम से वीसलदेव जैनधर्मका प्रेमी बन गया। प्रबन्धकोशके अनुसार नृपति जैन मंदिरोंमें नित्य पूजा करने लगा था।

एक बार राजा ने आपसे इनके कलागुणके सम्बन्ध में पूछा तो आपने अरिसिंह का नाम लिया। नृपतिने उसे बड़े सत्कारके साथ बुलाया और उसकी काव्यप्रतिभा से प्रसन्न होकर ग्राम आदि भेंट किये। वीसलदेवका समय सं० १३०० से १३२० तक का है। कई प्रबंधोंमें सं० १२९४ से १३१८ तक का भी लिखा है। इसलिये कवि अमरचन्दका समय भी यही सिद्ध होता है। जिस पद्मश्रावकके यहाँ रहकर आपने 'सिद्धसारस्वत' मंत्रकी आराधनाकी उसके कथनसे आपने 'पद्मानंद महाकाव्य' बनाया। उपदेशतरंगिणीके अनुसार महामंत्री वस्तुपालको 'अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचना। यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाला भवादृशः।' इस श्लोकको सुनाकर चमत्कृत करने वाले कवि अमरचन्द ही थे। पाटणके टांगड़ियावाड़ाके जैन मंदिरमें आपकी मूर्ति अब भी विद्यमान है। जिसका लेख इस प्रकार है –"संवत् १३४९ चैत्र वदी ६ शनौ वायटीय गच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पण्डित श्री अमरचन्द्रमूर्तिः पण्डितमहेन्द्रशिष्य-मदनचन्द्राख्येन कारिता शिवमस्तु।'

(प्राचीन जैन लेख संग्रह द्वितीय विभागे लेखांक ४२३)

प्रस्तुत मूर्तिसे आपका स्वर्गवास सं० १३४७ के पूर्व ही हो चुका, सिद्ध होता है।

आपके रचित ग्रन्थोंमेंसे 'बालभारत' प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित काव्यमालामें प्रकाशित किया जा चुका है। पद्मानंद काव्य आपकी कविप्रतिभा का अनुपम परिचय देता है। यह काव्य गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीजसे प्रकाशित हो चुका है। 'काव्यकल्पलता' नामक काव्यशिक्षाका महत्वपूर्ण ग्रन्थ चौखम्बा सिरीज, बनारससे प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त 'स्यादिशब्दसमुच्चय' नामक चौथे ग्रंथको पंण्डित लालचन्द भगवानदास गांधी ने बहुत वर्षपूर्व प्रकाशित किया है। आपका 'छंदोरत्नावली ग्रन्थ कई श्वेताम्बर ज्ञानभंडारोंमें प्राप्त है, परन्तु अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रबंधकोषमें उल्लेखित आपके कलाकलाप और सूक्तावली ग्रंथोंकी प्रतिका अभी किसी ज्ञानभंडारोंमें पता नहीं चला। अतः अन्वेषणीय है। सूक्तावली नामक ग्रंथोंकी कई प्रतियें ज्ञान भंडारोंसे प्राप्त होती है। संभव है, भली भांति जांच करने पर उनमेंसे कोई प्रति आपके रचित सूक्तावलीकी भी मिल जाय। प्रबन्धकोशमें आपकी की हुई १०८ समस्याओंकी पूर्तिका निर्देश करते हुए एक दो समस्यापूर्ति वाले श्लोक उद्धृत किये हैं। राजसभामें विद्याविनोद करते हुए समय-समयपर आपने ऐसे प्रासांगिक फुटकर श्लोक और भी रचे होंगे जो प्राप्त होने पर आपकी कवि प्रतिभा का अच्छा परिचय उपस्थित कर सकते हैं। सूक्तावलीमें सम्भव है कि आपके समस्यापूर्ति और फुटकर श्लोकोंका संग्रह हुआ हो इसलिये इस ग्रन्थका महत्व और भी बढ़ जाता है। विद्वानोंका ध्यान कवि अमरचन्दके इन दोनों अनुपलब्ध ग्रंथोंकी शोधके लिये आकृष्ट किया जाता है।

इस प्रकार 'वीतरागस्तवनम्' के रचयिता 'वेणीकृपाण' विशेषण विभूषित महाकवि अमरचन्द्रसूरिका संक्षिप्त परिचय यहाँ उपस्थित किया गया है। कविका 'पद्मानंद काव्य' इस समय मेरे सम्मुख नहीं है। संभव है उसकी प्रस्तावनासे और भी कुछ विशेष ज्ञातव्यका पता चले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशधर्म और उनका मानव जीवनसे सम्बन्ध

(पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य)

धर्मकी सामान्य परिभाषा

धर्मके बारेमें यह बतलाया गया है कि वह जीवोंको सुखी बनानेका अचूक साधन है और यह बात ठीक भी है अतः धर्म और सुखके बीचमें अविनाभावी सम्बन्ध स्थापित होता है अर्थात् जो जीव धर्मात्मा होगा, वह सुखी अवश्य होगा और यदि कोई जीव सुखी नहीं है या दुःखी है तो इसका सीधा मतलब यही है कि वह धर्मात्मा नहीं है।

बहुतसे लोगोंको यह कहते सुना जाता है कि 'अमुक व्यक्ति बड़ा धर्मात्मा है फिर भी वह दुःखी है' इस विषयमें दो ही विकल्प हो सकते हैं कि यदि वह व्यक्ति वास्तवमें धर्मात्मा है तो भले ही उसे हम दुःखी समझ रहे हों परन्तु वह वास्तवमें दुःखी नहीं होगा और यदि वह वास्तवमें दुःखी हो रहा है तो भले ही वह अपनेको धर्मात्मा मान रहा हो या दूसरे लोग उसे धर्मात्मा समझ रहे हों, परन्तु वास्तवमें वह धर्मात्मा नहीं है।

इस सचाईको ध्यानमें रखकर यदि धर्मका लक्षण स्थिर किया जाय, तो यही होगा कि जीवकी उन भावनाओं और उन प्रवृत्तियोंका नाम धर्म है जिनसे वह सुखी हो सकता है शेष जीवकी वे सब भावनायें और प्रवृत्तियां अधर्म मानी जायगीं, जिनसे वह दुखी हो रहा है।

दशधर्मोंके नाम और उनके लक्षण

जीवकी धार्मिक भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंको जैन संस्कृतिके अनुसार निम्नलिखित दश भेदोंमें संकलित कर दिया गया है—

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप. त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य।

(१) क्षमा – किसी भी अवस्थामें किसी भी जीवको कष्ट पहुँचानेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(२) मार्दव—किसी भी जीवको कभी भी अपमानित करनेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(३) आर्जव – कभी भी किसी जीवको धोखा देनेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(४) सत्य—किसीके साथ कभी अप्रामाणिक और अहितकर वर्ताव नहीं करना।

(५) शौच भोगसंग्रह और भोगविलासकी लालसाओंका वशवर्ती नहीं होना।

(६) संयम - जीवन निर्वाहके अतिरिक्त भोगसामग्रीका संग्रह और उपभोग नहीं करना।

(७) तप—जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करनेके लिए आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको विकसित करनेका प्रयत्न करना।

(८) त्याग—आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके अनुरूप जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करके जीवन निर्वाहके लिए उपयोगमें आने वाली भोग सामग्रीके संग्रह और उपभोगमें कमी करना।

(९) आकिञ्चन्य—आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिका अधिक विकास हो जाने पर जीवन निर्वाहके लिये उपयोगमें आने वाली भोग सामग्रीके संग्रहको समाप्त करके तृण मात्रका भी परिग्रह अपने पास न रखते हुए नग्न दिगम्बर मुद्राको धारण करना और आत्म कल्याणके उद्देश्यसे केवल अयाचित भोजनके द्वारा ही शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना तथा विधिपूर्वक भोजन न मिलने पर शरीरका उत्सर्ग करनेके लिये भी उत्साहपूर्वक तैयार रहना।

(१०) ब्रह्मचर्य—आत्माकी पूर्ण स्वावलम्बन शक्तिका विकास हो जाने पर अपनेको पूर्ण आत्मनिर्भर बना लेना, जहाँ पर भूख, प्यास आदिकी बाधाओंका सर्वथा नाश हो जानेके कारण शरीर रक्षाके लिये भोजनादिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

क्षमा आदि छह धर्म और मानव जीवन

इन दश धर्मोंमें से आदिके क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम इन छः धर्मोंकी मानव जीवनके लिये अनिवार्य आवश्यकता है इसका कारण यह है कि विश्वमें जीवोंकी संख्या इतनी प्रचुर मात्रामें है कि उनकी गणना नहीं की जा सकती है इसलिये जैन संस्कृतिके अनुसार जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त बतला दी गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये सब जीव एक दूसरे जीवके यथायोग्य उपकारी माने गये हैं । यही कारण है कि जैन-ग्रन्थोंमें सबसे पहले हमें "सत्वेषु मैत्रीम्" अर्थात् विश्वके समस्त जीवोंके प्रति मित्रता रखनेका उपदेश मिलता है । वास्तवमें जो जीव हमारा उपकारक है उसकी रक्षा करना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है । यदि हम उसकी रक्षा नहीं करते हैं तो इससे हमारे ही अहित होनेकी संभावना बढ़ जाती है इसलिये यदि हम अपना ही अहित नहीं करना चाहते हैं तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने उपकारक दूसरे जीवोंकी रक्षाका पूरा पूरा ध्यान रक्खें, उन्हें अपना मित्र समझें ।

थोड़ी देरके लिए हम एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पशु आदिकी बात छोड़ भी दें केवल मनुष्योंको ही लें, तो भी यह मानी हुई बात है कि सामान्य तौर पर किसी भी मनुष्यका जीवन दूसरे मनुष्यकी सहायताके बिना निभ नहीं सकता है । प्रायः सभी विद्वान यह कहते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अर्थात् संगठित समाज ही मनुष्यके सुखपूर्वक जिन्दा रहनेका उत्तम साधन है अतः सुखपूर्वक जिन्दा रहनेके लिये हमें यह तो सोचना ही होगा कि संगठित समाज कैसे कायम रह सकता है ?

हमारे पूर्वज बहुत अनुभवी थे, उन्होंने कुटुम्बके रूपमें, ग्रामके रूपमें, देशके रूपमें और नाना देशोंमें सन्धि आदिके रूपमें, मानव जातिके संगठन क़ायम किये, जो अब तक चले आ रहे हैं परन्तु हमारे अन्तःकरणमें संगठनकी भावना नहीं रह जाने और एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके प्रति अप्रामाणिक और अहितकर व्यवहार चालू हो जाने के कारण ये सब संगठन मृतप्राय हो चुके हैं इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यदि असमयमें ही जीवन समाप्त हो जाने का भय बना रहे या जिन्दा रहते हुए भी उसका जीवन दुःखी बना रहे तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य ये चार धर्म हमें इन संगठनोंको कायम रखनेमें मदद पहुँचाते हैं अर्थात् जिन्दा रहने और अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये हमें दूसरे मनुष्योंके साथ प्रामाणिक और हितकारी वर्ताव करनेकी अनिवार्य आवश्यकता है । प्रामाणिक वर्तावका अर्थ यह है कि हम कभी भी किसीको धोखेमें न डालें और हितकारी वर्तावका अर्थ यह है कि हम कभी भी किसीको कष्ट न पहुँचावें और न किसी प्रकारसे कभी उसे अपमानित ही करें । इस प्रामाणिक और हितकारी वर्ताव करने का नाम ही सत्यधर्म बतलाया गया है । हम दूसरोंके साथ ऐसा वर्ताव तभी कर सकते हैं जबकि हमारा अन्तःकरण पवित्र हो अर्थात् हमारा अन्तःकरण सर्वदा दूसरोंको धोखा देने, कष्ट पहुँचाने और अपमानित करनेकी दुर्भावनाओं से अलिप्त रहे और हम पहले बतला आये हैं कि अपने अन्तःकरणमें दूसरोंको कष्ट पहुँचानेकी दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम क्षमा धर्म, किसी भी प्रकारसे अपमानित करने की दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम मार्दव धर्म तथा किसी भी प्रकारसे धोखेमें न डालनेकी दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम आर्जव धर्म है ।

इन चारों क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्मोंके अभावमें हम पुरातन कालसे चले आ रहे कुटुम्ब, ग्राम आदि संगठनोंको सुरक्षित नहीं रख पा रहे हैं इसलिये न तो हमारे जीवनमें सुख ही नजर आ रहा है और न हम अपनेको सभ्य नागरिक कहलानेके ही अधिकारी हो सकते हैं । इतना ही नहीं, ऐसा कहना भी अनुचित नहीं होगा, कि जिसमें उक्त चारों बातें नहीं पायी जाती हैं, वह मनुष्य अपनेको मनुष्य कहलानेका भी अधिकारी नहीं माना जा सकता है । अतः कहना चाहिये कि दूसरोंके प्रति दूषित भावना और दूषित वर्ताव न करके हम अपनी मनुष्यताकी ही रक्षा करते हैं ।

प्रत्येक मनुष्यको अपना जीवन दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेके लिये यह भी सोचना है कि वह अन्तःकरणमें उत्पन्न अगणित लालसाओंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके प्रकृति विरुद्ध असीमित भोगोपभोगोंका जो संग्रह और उपभोग किया करता है इसमें से पहले तो वह भोगोपभोगोंके लिए ही काफी परेशान होता है और बादमें उनका अनर्गल उपभोग करके अपने शरीरको ही रुग्ण बना लेता है जिसके कारण या तो उसका जीवन अल्पकालमें ही समाप्त हो जाता है अथवा औषधियोंके चक्करमें पड़कर कष्टपूर्ण जिन्दगी व्यतीत करनेके लिए उसे बाध्य हो जाना पड़ता है अतः जीवनसे इन बुराइयोंको दूर करने और उसे दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेके

१—परस्परोपग्रहो जीवानाम् । (तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सू० २१)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए प्रत्येक मनुष्यका यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि अनर्गल उपभोगमें कारणभूत अन्तःकरणमें विद्यमान भोगोपभोग सम्बन्धी लालसाओंको समूल नष्ट कर दें और ऐसे भोगोपभोगोंका संग्रह और उपभोग जरूरतके माफ़िक करने लग जाय जो भोगोपभोग जितनी मात्रामें उसकी प्रकृतिके विरुद्ध न होकर उसके जीवनको दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेमें समर्थ हों।

हम यह भी पहले कह आये हैं कि उपर्युक्त लालसाओंको समूल नष्ट कर देनेका नाम शौचधर्म और जरूरतके माफिक प्रकृतिके अनुकूल भोग सामग्रीका संग्रह और उपभोग करनेका नाम संयम धर्म है। इस प्रकार जो मनुष्य पूर्वोक्त चार धर्मोंके साथ साथ शौच और संयम इन दोनों धर्मोंको अपने जीवनका अंग बना लेता है वह जैन संस्कृतिके अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विवेकी कहा जाने लगता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यका सर्वदा यही खयाल रहता है कि कौन वस्तु कहाँ तक उसके जीवनके लिए उपयोगी है और केवल इस खयालके आधार पर ही वह अपने जीवन निर्वाहके साधनोंको जुटाता एवं उनका उपभोग किया करता है। वह जानता है कि भोजन, वस्त्र, मकान आदि पदार्थोंकी उसके जीवनके लिये क्या उपयोगिता हैं? कहने का मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्यके अन्तःकरणमें भोग विलासकी भावना समाप्त हो जाती है केवल जीवन निर्वाहकी ओर ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

तप आदि धर्मचतुष्क और मुक्ति

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य क्षमा, मार्दव, सत्य, शौच और संयम द्वारा अपने जीवनको दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनाता हुआ जब यह सोचता है कि उसके जीवनका उद्देश्य आत्माको पराधीनतासे छुड़ाकर निर्विकार और शुद्ध बनाना ही है तो वह इसके लिये साधनभूत तप, त्याग, अकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन चार धर्मोंकी ओर अपना ध्यान दौड़ाता है वह जानता है कि आत्मा पराधीनतासे छुटकारा तभी पा सकता है जबकि उसकी स्वावलम्बन शक्तिका पूर्ण विकास हो जावे, अतः वह इसके लिये अपने जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको क्रमशः कम करनेका प्रयत्न करने लगता है उसके इस प्रयत्नका नाम ही तपधर्म है तथा अपने उस प्रयत्नमें सफलता प्राप्त करने पर जैसे जैसे उसकी स्वावलम्बन शक्तिका धीरे-धीरे विकास होता जाता है वैसे वैसे ही वह अपने जीवन निर्वाहके साधनोंमें भी कमी करता जाता है जिसे त्याग धर्म बतलाया गया है। इस तरह वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपने जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करके आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिका अधिकाधिक विकास करता हुआ और उसीके अनुसार जीवन निर्वाहकी सामग्रीका त्याग करता हुआ अन्तमें ऐसी अवस्थाको प्राप्त कर लेता है जिस अवस्थामें उसके तृणमात्र भी परिग्रह नहीं रह जाता है तथा बरसातमें, शर्दीमें और गर्मीमें सर्वदा अपनी नग्न दिगम्बर मुद्रामें ही वह बिना किसी ठौरके सर्वत्र विचरण करता रहता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्यका इस स्थिति तक पहुँच जानेका नाम ही अकिञ्चन्य धर्म है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यको पूर्वोक्त प्रकारसे तप और त्याग धर्मोंके अंगीकार कर लेने पर, जैन संस्कृतिके अनुसार लोग श्रावक, देशविरत या अणुव्रती कहने लगते हैं और प्रयत्न करते करते अन्तमें उक्त प्रकारका आकिञ्चन्य धर्म स्वीकार कर लेने पर उसे साधु, मुनि, ऋषि या महाव्रती कहने लगते हैं।

आकिञ्चन्य धर्मका दृढ़ताके साथ पालन करने वाला वही सम्यग्दृष्टि मनुष्य विविध प्रकारके घोर तपश्चरणों द्वारा अपनी स्वावलम्बन शक्तिका विकास करते हुए उस स्थिति तक पहुंच जाता है जहाँ उसे न कभी भूख लगती है? और न प्यास लगनेकी ही जहाँ पर गुंजाइश है। वह पूर्ण रूपसे आत्म-निर्भर हो जाता है। मनुष्य द्वारा इस प्रकारकी स्थितिको प्राप्त कर लेनेका नाम ही ब्रह्मचर्यधर्म है। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ पूर्ण रूपसे आत्म-निर्भर हो जाना है और जो मनुष्य पूर्णतः आत्म-निर्भर हो जाता है उसे जैन संस्कृतिके अनुसार, 'अर्हन्त' या 'जिन' कहा जाता है और इसे ही पुरुषोत्तम अर्थात् संपूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ माना गया है कारण कि मनुष्यका सर्वोत्कृष्ट जीवन यही है कि भोजनादि पर वस्तुओंके अवलम्बनके बिना ही वह जिन्दा रहने लग जाय। जैन आगम-ग्रन्थोंमें यह भी बतलाया गया है कि जो मनुष्य पूर्णरूपसे आत्म-निर्भर होकर अर्हन्त और पुरुषोत्तम बन जाता है वह पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होता है और यही कारण है कि उसमें विश्व-कल्याणमार्गके सही उपदेश देनेकी सामर्थ्य उदित हो जाती है। इस प्रकार विश्वको कल्याण मार्गका उपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हुए अन्तमें जब वह अपना शरीर छोड़ता है तो वह पुनः शरीर धारण नहीं करता है, केवल एकाकी आत्मरूप होकर सर्वदाके लिए अजर और अमर हो जाता है ऐसे आत्माको ही जैन मान्यताके अनुसार मुक्त, सिद्ध या परमब्रह्म कहा जाता है।

मनुष्यका कर्त्तव्य

ये दश धर्म किसी सम्प्रदाय विशेषकी बपौती नहीं है। धर्मका रूप ही ऐसा होता है कि वह सम्प्रदाय विशेषके बन्धनसे अलिप्त रहता है जीवनको सुखी बनानेकी अभिलाषा रखने वाले तथा आत्मकल्याणके इच्छुक प्रत्येक मनुष्यका यह अधिकार है कि वह अपनी शक्ति और साधनोंके अनुसार उक्त प्रकारसे धर्म पालनमें अग्रसर हो।

इस प्रकार क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य ये चार धर्म यदि हमारे जीवनमें उतर जांय तो हम सभ्य नागरिक रूपमें चमक सकते हैं और इन चारों धर्मोंके साथ साथ शौच एवं संयम धर्म भी हमारे जीवनमें यदि आ जाते हैं तो हमारा जीवन अनायास ही दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बन सकता है। नवीन नवीन और जटिल रोगोंकी वृद्धि जो आजकल देखनेमें आ रही है उसका कारण हमारी अनर्गल और हानिकर आहार-विहार-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ ही तो हैं। सब दुष्प्रवृत्तियोंके शिकार होते हुए भी हम अपनेको सभ्य नागरिक तथा विवेकी और सम्यग्दृष्टि मानते हैं यह आत्मवंचना नहीं है तो फिर क्या है?

हमारे शास्त्र हमें बतलाते हैं कि आजकल मनुष्य इतना हीन शक्ति हो गया है कि उसका मुक्ति का या पूर्ण आत्मनिर्भर बननेका स्वप्न पूरा नहीं हो सकता है परन्तु श्रावक और साधु बननेके लिये भी तप, त्याग और आकिञ्चन्य धर्म सम्बन्धी जो मर्यादायें निश्चित की गई हैं उनके दायरेमें रह कर ही हम श्रावकों और साधुओंकी श्रेणीमें पहुँच सकते हैं। वस्त्रका त्याग करके नग्न दिगम्बर वेशका धारक साधु ठंड आदिकी बचतके लिये यदि पयाल आदिका उपयोग करता है तो उसमें साधुता कहाँ रह जाती है अतः साधुका वेश हमें तभी स्वीकार करना चाहिये जबकि वस्त्रादिके अभावमें शीतादिकी बाधा सहन करनेकी सामर्थ्य हमारे अन्दर उदित हो जावे इसी तरह श्रावक भी हमें तभी बनना चाहिए जबकि हमारे अन्दर अपने जीवन निर्वाहके साधनोंको कम करनेकी शक्ति प्रगट हो जावे। अपनी शक्तिको न तौल कर और अपनी कमजोरियोंको छुपा कर जो भी व्यक्ति श्रावक या साधु बननेका प्रयत्न करता है वह अपनेको पतनके गर्तमें ही गिराता है। इसलिये श्रावक और साधु बननेका प्रश्न हमारे लिये महत्वका नहीं है हमारे लिए सबसे अधिक महत्त्वका यदि कोई प्रश्न है तो यह सम्यग्दृष्टि (विवेकी) बननेका ही है जिससे कि हम अपनी जीवन आवश्यकताओंको ठीक ठीक तरहसे समझ सकें और उनकी पूर्ति सही तरीकेसे कर सकें। कारण कि हमारे जीवन निर्वाहकी जितनी समस्यायें हैं उनको ही यदि हमने अपनी दृष्टिसे ओझल कर दिया तो फिर हमारा जीवन ही खतरेमें पड़ सकता है इसलिये भले ही हम अपनी जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम न कर सकें, तो चिन्ताकी बात नहीं है परन्तु असीमित लालसाओंके वशीभूत होकर हम अनर्गल रूपसे अनावश्यक प्रवृत्तियाँ करते रहें, तो यह अवश्य ही चिन्तनीय समस्या मानी जायगी।

आजकल प्रत्येक मनुष्य जब चारों ओर वैभवके चमत्कारोंको देखता है तो उनकी चकाचौंधमें उसका मन डावांडोल हो जाता है और तब वह उनके आकर्षणसे बच नहीं सकता है और उसकी लालसायें वैभवके उन चमत्कारोंका उपभोग करनेके लिए उमड़ पड़ती हैं और तब वह सोचता है कि जीवनका सब कुछ आनन्द इन्हींके उपभोगमें समाया हुआ है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके पास ऐसा आलीशान मकान हो जिसमें वैभवकी सभी कलायें छिटक रही हों, उसका भोजन और उसके वस्त्र अश्रुत पूर्व और अभूतपूर्व, बढ़ियासे बढ़िया मोटरकार हो, रेडियो हो और न मालूम क्या क्या हो, विश्वमें छायी हुई विषमताने मनुष्यकी लालसाओंको उभाड़नेमें कितनी अधिक सहायता की है यह बात जान कार लोगोंसे छिपी हुई नहीं है। जिनके पास ये सब साधन मौजूद हैं वे तो उनके भोगमें ही अलमस्त हैं लेकिन जिनके पास इन सब साधनोंकी कमी है या बिल्कुल नहीं है वे भी केवल ईर्षा और डाहकी ही जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं वे भी नहीं सोच पाते कि भला इन वैभवके चमत्कारोंसे हमारे जीवन-निर्वाहका क्या सम्बन्ध है?

हम मानते हैं कि जिनके पास समयकी कमी है और काम अधिक है उन्हें मोटरकी जरूरत है परन्तु सैर सपाटे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिये उस मोटरका क्या उपयोग हो सकता है ? यह भी हम मानते हैं कि देश और विदेशोंकी परिस्थितियोंकी जानकारीके लिये रेडियोका उपयोग आवश्यक है परन्तु अनुपयोगी और अश्लील गानों द्वारा कानोंका तर्पण और मनोरंजनके लिए उसका क्या उपयोग हो सकता है ? यही बात वैभवकी चकाचोंधसे परिपूर्ण महलों, चमकीले भड़कीले वस्त्रों और दुष्पाच्य गरिष्ठ भोजनोंके बारेमें भी समझना चाहिये ।

अन्तिम निवेदन

ऐसे अन्धकारपूर्ण वातावरणमें उक्त दश धर्मोंका प्रकाश ही मानवको सद्बुद्धि प्रदान कर सकता है परन्तु इन धर्मोंके स्वरूप और मर्यादाओंके विषयमें भी लोग अनभिज्ञ हो रहे हैं। प्रायः लोगोंका यह खयाल है कि वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है परन्तु वीर्य रक्षाकी मर्यादा संयम और त्याग धर्ममें ही पूर्ण हो जाती है इसी तरह लोग रुपया पैसाके दानको तथा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकासकी अवहेलना करके अक्रम और अव्यवस्थित ढंगसे किये गये भोगादिके त्यागको त्याग धर्ममें गर्भित कर लेते हैं; परन्तु वे यह नहीं सोचते कि रुपया पैसाका दान आदिके चार धर्मोंमें ही यथा योग्य गर्भित होता है और जिसमें आत्मशक्तिके विकासको अवहेलना की गयी है ऐसे अक्रम और अव्यवस्थित ढगसे किया गया त्याग तो धर्मकी मर्यादामें ही नहीं आ सकता है अतः प्रत्येक मनुष्य और कमसे कम विचारक विद्वानोंका तो यह कर्तव्य है कि वे दश धर्मोंके स्वरूप और उनके अर्थपूर्ण क्रमको समझनेका प्रयत्न करें तथा स्वयं उसी ढंगसे उनके पालन करनेका प्रयत्न करें और साधारण जनको भी समझानेका प्रयत्न करें ताकि मनुष्यमात्रमें मानवताका संचार हो और समस्तजन अपने जीवनको सुखी बनानेका मार्ग प्राप्त कर सकें। ता० १७-८-४३

उत्तम क्षमा

(परमानन्द जैन शास्त्री)

येन केनापि दुष्टेन पीड़ितेनापि कुत्रचित् ।
क्षमा त्याज्या न भव्येन स्वर्गमोक्षाभिलाषिणा ॥

जिस किसी दुष्ट व्यक्तिके द्वारा पीड़ित होने पर भी स्वर्ग और मोक्षकी अभिलाषा वाले व्यक्तिको क्षमा नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि क्षमा आत्माका धर्म है, स्वभाव तथा गुण है, वह आत्मामें ही रहता है। बाह्य विकृतिके कारण आत्माका वह गुण भले ही तिरोहित या आच्छादित हो जाय, अथवा आत्मा उस विकारके कारण अपने स्वभावसे च्युत होकर राग-द्वेषादि रूप विभावभावोंमें परिणत हो जाय, परन्तु उसके क्षमा गुणरूप निज स्वभावका अभाव नहीं हो सकता। अन्यथा वह आत्माका स्वभाव नहीं बन सकता। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' वाक्यके अनुसार क्षमाको वीर व्यक्तिका आभूषण माना गया है। वास्तवमें क्षमा उस वीर व्यक्तिमें ही होती है जो प्रतिकारकी सामर्थ्य रखता हुआ भी किसी असमर्थ व्यक्ति द्वारा होने वाले अपराधको क्षमा कर देता है—उसे दण्ड नहीं देता, और न उसके प्रति किसी भी प्रकारका असंतोष अथवा बदला लेनेकी भावनाको हृदयमें स्थान ही देता है। किन्तु मन स्थितिके विकृत होनेके कारण समुपस्थित होने पर भी चित्तको अशान्त नहीं होने देता, उन विभाव भावोंको अनात्मभाव अथवा आत्मगुणोंका घातक समझकर उन्हें पचा देता है—उनके उभरनेकी सामर्थ्यको अक्रोध गुणकी निर्मल अग्निमें जला देता है और अपनेको वह निर्मल गुणोंकी उस विमल सरितामें सराबोर रखता है जहां असाधुपनकी उस दुर्भावनाका पहुँचना भी संभव नहीं होता। मोह क्षोभसे होने वाले रागद्वेष रूप विकारात्मक परिणाम जहां ठहर ही नहीं सकते; किन्तु आत्माकी स्थिति शान्त और समता रससे ओत-प्रोत रहती है। कंचन, कांच निन्दा स्तुति-पूजा, अनादर, मणि-लोष्ट सुख दुख, जीवन मरण, संपत् विपत् आदि कार्योंमें समता बनी रहती है, वही व्यक्ति वीर तथा धीर और आत्म स्वातंत्र्यताका अधिकारी होता है। उसे ही स्वात्मोपलब्धि अपना स्वामी बनाती है।

किन्तु जो व्यक्ति सदृष्टि नहीं, कायर और अज्ञानी है वस्तुतत्त्वको ठीक रूपसे नहीं समझता, वह जरासे निमित्त मिलने पर क्रोधकी आगमें जलने लगता है, प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावमें भी आई हुई आपदाका प्रतिकार करना चाहता है किन्तु उसका प्रतीकार न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होनेसे खेद खिन्न रहता है। दूसरोंको बुरा भला कहता है। अपने स्वार्थकी लिप्सामें दूसरेके हित अहित होनेकी परवाह नहीं करता, और न खुद अपना ही हित साधन कर सकता है, ऐसे व्यक्तिमें क्षमा रूप आत्मगुणका विकास नहीं हो पाता, और न उसकी महत्ताका उसे आभास ही हो पाता है। क्रोधाग्नि जिस व्यक्तिमें उदित होती है वह सबसे पहले उस व्यक्तिके धैर्यादि गुणोंका विनाश करती है—उन्हें जलाती है—और उसे प्राण रहित निश्चेष्ट बना देती है। क्रोधी व्यक्ति पहले अपना अपकार करता है, बादमें दूसरेका अपकार हो या नहीं, यह उसके भवितव्यकी बात है। जैसे किसी व्यक्तिने क्रोध वश अपराधीको सजा देनेके लिये आगका अंगारा उठाकर फैंकने की कोशिश की। आगका अंगारा उठाते ही उस व्यक्तिका हाथ पहले स्वयं जल जाता है। बादमें जिस व्यक्तिको अपराधी समझकर उसे जलानेके लिये अग्नि फैंकी गई है वह उससे जले या न जले यह उसके भवितव्यके आधीन है। परन्तु आग फैंकने वाला व्यक्ति तो पहले स्वयं जल ही जाता है। इसी तरह क्रोधी पहले अपना अपकार करता है, बादमें दूसरेके अपकारमें निमित्त बने अथवा न बनें इसका कोई नियम नहीं है।

क्रोध आत्माका स्वाभाविक परिणाम नहीं, वह परके निमित्तसे होने वाला विभाव है। उसके होने पर विवेक चला जाता है और अविवेक अपना प्रभाव जमाने लगता है। इसीसे उसका विनाश होता है। क्रोध उत्पन्न होते ही उस व्यक्तिकी शारीरिक आकृतिमें विकृति आ जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं, शरीर कांपने लगता है, मुखकी आकृति विगड़ जाती है, मुँहसे यद्वा तद्वा शब्द निकलने लगते हैं, जिस कार्यको पहले बुरा समझता था क्रोध आने पर उसे ही वह अच्छा समझने लगता है। उस समय क्रोधी पुरुषकी दशा पिशाचसे अभिभूत व्यक्तिके समान होती है—जिस तरह पिशाच मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करने पर वह व्यक्ति आपेसे बाहर होकर अकार्योंको करता है कभी उचित क्रिया भी कर देता है, पर वह उस अवस्थामें अपना थोड़ा सा भी हित साधन नहीं कर सकता। इसी तरह क्रोधी मनुष्य भी अपना अहित साधन करता हुआ लोकमें निन्दाका पात्र होता है। क्रोधोत्पत्तिके अनेक निमित्त हैं, झूठ बोलना, चोरी करना, कटुक वचन बोलना, गाली देना, किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करना, किसीको मानसिक पीड़ा पहुँचाना अथवा ऐसा उपाय करना जिससे दूसरेको नुकसान उठाना पड़े, तथा लोकमें निन्दा वा अपयशका पात्र बनना पड़े, आदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यको अपशब्द कहता है गाली देता है जिससे दूसरा मनुष्य उत्पीड़ित होता है अपने अहंकारकी भावना पर आघात हुआ अनुभव करता है, अपने अपमानको महसूस करता हुआ क्रोधाग्निसे उद्दीपित हो जाता है, और उससे अपने अपमानका बदला लेनेके लिये उतारू हो जाता है। उन दोनोंमें परस्पर इतना अधिक झगड़ा बढ़ जाता है कि दोनोंको एक दूसरेके जीवनसे भी हाथ धोना पड़ता है, क्रोधसे होने वाली यह सब क्रियाएँ कितना अनर्थ करती हैं यह अज्ञानी नहीं समझता और न कार्य अकार्यका कुछ विचार ही करता है।

परन्तु ज्ञानी (सदृष्टि) क्रोध और उससे होने वाले अवश्यम्भावी विनाश परिणामसे परिचित है, वह 'क्रोधो मूलमनर्थानां' की उक्तिसे भी अनभिज्ञ नहीं है। वह सोचता है कि जिस गाली या अपशब्दके उच्चारणसे क्रोधका यह ताण्डव नृत्य हो रहा है या हुआ है, वह सब अज्ञानका ही परिणाम है। ज्ञानी विचारता है कि 'गाली' शब्द पौद्गलिक है,—पुद्गल (Matter) से निष्पन्न हुआ है, वह मेरे आत्मगुणोंको हानी नहीं पहुँचा सकता। गाली देने वालेने यदि तुझे गाली दी है—अपशब्द कहा है, तो तुझे उसका उत्तर गालीमें नहीं देना चाहिये, किन्तु चुप हो जाना चाहिये। क्योंकि—

'गाली आवत एक है जावत होत अनेक।
जो गालीके फेरे नहीं तो रहे एककी एक॥

कदाचित् यदि गालीका जबाब गाली में दिया जाता हैं तो झगड़ा और भी बढ़ जाता है—उससे शान्ति नहीं मिलती और न ऐसा करना बुद्धिमत्ता ही है।

किसी कवि ने कहा हैं :—

ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तो,
वयमपि तदभावात् गालिदानेऽसमर्थाः।
जगद् विदित मेतद् दीयते विद्यमानं,
नहि शशक विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

दूसरे यदि गाली देने वालेके पास अनेक गालियां है, तो वह गालियां देगा ही, क्योंकि यह लोकमें विदित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि जिसके पास जो चीज होती है वह वही चीज उसे देता है। मेरे पास गालियां नहीं हैं अत. मैं उन्हें नहीं दे सकता, लोकमें खरगोशके सींग नहीं होते तो उन्हें कोई किसीको देता भी नहीं है।

फिर भी ज्ञानी सोचता है कि गाली देने वालेने जो गालियां दी हैं उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। यदि मेरे किसी भी व्यवहारसे उसे कष्ट पहुँचा हो अथवा दुख हुआ हो तो उसने उसका बदला गाली देकर दिया है, सो ठीक है, मेरा असद् व्यवहार ही उस गालीका कारण है। फिर विचारता है, कि यदि मैंने इसके साथ कोई जानबूझ कर बुरा व्यवहार नहीं किया, उसने गलतीसे ही ऐसा किया हैं। तो उसने असद् व्यवहार करके मेरा उपकार ही किया है, मेरी परीक्षा हो गई, मेरा आत्मा विभावरूप नहीं परिणमा, यही मेरे लिये हितकर है। और उस बेचारे व्यक्तिने तो अपना अपकार ही किया है, वह बेचारा दीन है; मेरे द्वारा क्षमाका पात्र ही है। उसने मुझे गाली देकर जो मेरे अशुभ कर्मकी निर्जरा कराई है अतः वह मेरा बन्धु ही है, शत्रु नहीं। क्यों कि शत्रुताका व्यवहार अपकार करने वालेके प्रति होता है, सो वह तो मेरा उपकारी ही है, अतः वह मेरा शत्रु नहीं हो सकता। मेरा शत्रु तो मेरे में उदित होने वाला क्रोधादिरूप विभाव परिणाम है जो मेरी आत्म निधिके विकासमें बाधक है। अतः मुझे उस क्रोधरूपी वैरीका विनाश करना चाहिये जिससे मेरी आत्म-निधिका संरक्षण हो सके।

मेरा क्रोध उस अपराधी पर ही है,जो मेरा शत्रु है, यदि ऐसा है तो आत्माका अपराधी तो क्रोध है; क्योंकि क्रोधने ही मेरा अपराध किया है—मेरे आत्म-गुणोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया है, इसलिये क्रोधही मेरा शत्रु है। अतएव मुझे उसी पर क्रोध करना चाहिये। अन्य व्यक्तियों पर क्रोध करनेसे क्या लाभ; दूसरे व्यक्ति तो अपने अपने उपार्जित कर्मोंके आधीन हैं। वे मेरा कोई बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते, किन्तु बिगाड़ सुधार होने पर वे निमित्त अवश्य बन जाते हैं। अतः मैं अपनेको कर्म बन्धनमें डालकर दूसरोंके उपकार अपकारमें निमित्त क्यों बनूँ।

मैं मोहवश अज्ञानसे परको कर्ता माने हुए था। इसी कारण दूसरेमें शत्रु मित्रकी कल्पना कर अपनी ऐहिक स्वार्थसिद्धि किया करता था, परन्तु विवेकके जागृत होते ही वह मेरी मिथ्या दृष्टि विलीन हो गई और मुझे अपनी उस ग़लतीका भान हो गया है। अब मेरा दृढ़ निश्चय है कि पर पदार्थ मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता। बिगाड़-सुधार स्वयं मेरे परणामों पर ही निर्भर है। मेरी अन्तर्बाह्य परिणतिही मेरे कार्यकी साधक-बाधक है। अतः मुझे आत्म-शोधन द्वारा अपनी परिणतिको ही सुधारनेका यत्न करना चाहिये। ज्ञानी और अज्ञानीकी विचार-धारामें बड़ा भारी भेद है। जहां ज्ञानी वस्तुतत्त्वका मर्मज्ञ और विवेकी होता है वहां अज्ञानी अविवेकी और हिताहितके विचारसे शून्य होता है।

यदि वस्तुतत्त्वका गहरा विचार किया जाय, और उससे समुत्पन्न विवेक पर दृष्टि दी जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रोधादिक परिणाम विभाव हैं परनिमित्तसे होने वाले औदयिक परिणाम हैं। यही मेरे जीवनके शत्रु हैं, इनको मुझे अक्रोधभावसे जीतना चाहिये और अहंकार ममकारके कारण होने वाले अनिष्ट परिणामसे सदा बचने का यत्न करना चाहिये। मनुष्यका आत्मा जितना निर्बल होगा, हित अहितके विचारकी शक्ति उतनी ही मन्द होगी और वह क्रोधादि विभावोंके प्रभावमें आकर अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, उसकी बुद्धि अच्छे कार्यों में न जाकर बुराईकी ओर ही जाती है, वह आत्मनिरीक्षण करनेमें भी असमर्थ होता है, इसीसे उसे अपनी निर्बलताका भान नहीं हो पाता, यही उसके पुरुषार्थकी कमी है जिससे वह आत्महितसे वंचित रहता है। महापुरुषोंने अज्ञानीकी इस पुरुषार्थ कमीको दूर करनेका उपदेश दिया है जिससे वह अपनी निर्बलताको दूर करके अपनी शक्तिका यथार्थ अनुभव कर सके और क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेका उपक्रम कर सके, तथा क्षमा नामक गुणकी महत्ता-से भी परिचित हो सके। कायरता और मनोबलकी कम-जोरी दूर होते ही उसमें सहनशीलता आने लगती है और फिर उसमें वचन सहिष्णुता भी उदित होने लगती है; उसकी वृद्धि होने पर वह वचन सम्बन्धि असहिष्णुताके परिणामसे बच जाता है।

एक साधु कहीं जंगलमें से गुजर रहा था, अचानक डाकू आ गए उनमें से एक डाकूने साधूको एक चांटा मारा और उसका कमंडलु छीन लिया, साधु विवेकी और सहिष्णु था, उसने डाकूसे कहा कि आपके इस हाथमें चोट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लग गई है लाइये मैं इसे दबा दूँ जिससे उसकी पीड़ा कम हो जाय। यह कह कर साधु डाकूके हाथको दवाने लगा। डाकू साधुके शान्त स्वभाव और उसके सहनशील व्यवहारको देखकर उसके चरणों में गिर पड़ा और बोला महाराज! मैंने आपका बड़ा अपराध किया है, जो मैंने बिना कुछ कहे आपको चांटा मारा और कमंडलु छीना। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये और अपना यह कमंडलु लीजिये। इतना कह कर डाकू वहांसे चले गए किन्तु उन पर साधुकी उस सहिष्णुताका अमिट प्रभाव पड़ा।

यदि क्षमाको आत्माका स्वभाव या धर्म न माना जाय तो जो क्रोधी व्यक्ति है उसका क्रोध सदा बना रहना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, क्रोध उदित होता और चला जाता है, इससे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि क्रोध आत्माका स्वभाव नहीं है पुद्गलकर्मके निमित्तसे होने वाला औदयिक परिणाम है। क्रोधीका संसारमें कोई मित्र नहीं बनता और क्षमाशील व्यक्तिका कोई शत्रु नहीं बनता; क्योंकि वह स्वप्नमें भी किसीका बुरा चिन्तवन नहीं करता और न किसीका बुरा करनेकी चेष्टा ही करता है। उसका तो संसारके समस्त जीवोंसे मैत्री भाव रहता है।

क्षमाधर्मके दो स्वामी हैं गृहस्थ और साधु। ये दोनों ही प्राणी अपने २ पदानुसार कषायोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके अनुसार क्षमा गुणके अधिकारी होते हैं।

गृहस्थ अपनी मर्यादाके अनुसार क्षमाका अपने जीवनमें आचरण कर लोकमें सुखी हो सकता है—जो सदृष्टी पुरुष, विवेकी और कर्तव्यनिष्ठ है वह संसारके किसी भी प्राणीका बुरा न चाहते हुए अपने दयालु स्वभावसे आत्मरक्षा करता हुआ दूसरेको प्रयत्न पूर्वक कष्ट न पहुँचा कर सांसारिक व्यवहार करते हुए भी क्षमाका पात्र बन सकता है।

साधु चूँकि आत्म-साधनामें निष्ठ है सांसारिक संघर्षसे दूर रहता है—क्योंकि वह संघर्षके कारण परिग्रहका मोह छोड़ चुका है। यहां तक कि वह अपने शरीरसे भी निस्पृह हो चुका है। अतएव वह दूसरोंको पीड़ा देने या पहुँचाने की भावनासे कोसों दूर है, अतः उसका किसीसे वैर-विरोध भी नहीं है, वह सदृष्टि और विवेकी तपस्वी है। अतएव वह उत्तम क्षमाका धारक है। उसके यदि पूर्व कर्मकृत अशुभका उदय आ जाता है और मनुष्य तिर्यंचादिके द्वारा कोई उपसर्ग परीषह भी सहना पड़े तो उन्हें खुशीसे सह लेता है—वह कभी दिलगीर नहीं होता और शरीरके विनष्ट हो जानेपर भी विकृतिको कोई स्थान नहीं देता। वह तपस्वी क्षमाका पूर्ण अधिकारी है। क्षमा शीलही अहिंसक है, जो क्रोधी है वह हिंसक है। अतः हमें क्रोधरूप विभावभावका परित्याग करने, उसे दबाने या क्षय कर क्षमा शील बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

दस लक्षण धर्म-पर्व

(श्री दौलतराम 'मित्र')

संवर निर्जरा कारक आत्माकी वीतराग परणतिको धर्म कहते हैं, जो कि मुक्तिका मार्ग है।

उत्तम क्षमादि दस लक्षण धर्म, रत्नमय धर्म (सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) से भिन्न नहीं है, किन्तु एक है?

उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य ये पांच लक्षण सम्यक् दर्शन ज्ञान स्वरूप है, तथा संयम, तप, त्याग आकिंचन ब्रह्मचर्य ये पाँच लक्षण सम्यक्-चारित्र स्वरूप है।

एक मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इनके अनुदयसे पूर्वार्धके पाँच लक्षण (अथवा स० दर्शन ज्ञान) पैदा होते हैं, तथा शेष कषायोंके अनुदयसे उत्तरार्धके पाँच लक्षण अथवा—सम्यक् चारित्र) पैदा होते हैं।

मिथ्यात्व (= विषयेषु सुख भ्रान्ति और कषाय ये आत्माकी अहित (आश्रव बन्ध) कारक सराग परणति है। अतएव सदा सावधान रहकर इससे बचते रहना है। स्व० पं० दौलतरामजीने यही बात क्या ही अच्छे शब्दोंमें कही है—

"आतमके अहित विषय कषाय।
इनमें मेरी परणति न जाय॥"

परन्तु आश्चर्य है कि आजकल हम लोगोंने विषय कषाय शोषक दस लक्षण धर्म पर्वको अधिकांशमें विषय कषाय पोषक त्यौहार सरीखा बना रखा है। इसमें संशोधन होना आवश्यक है, अन्यथा हम मुक्ति मार्गसे हट जायेंगे। किसीने सच कहा है—

"पर्व (पोर) खाने (भोगनेकी) वस्तु नहीं, किंतु बोने (त्यागनेकी) वस्तु है"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम मार्दव

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

आज मार्दव धर्म है, क्षमाधर्म विदा हो रहा है, विदा तो होता ही है उसका एक दृष्टांत आपको सुनाता हूँ। मैं नदियामें दुलारझाके पास न्याय पढ़ता था, वे न्याय शास्त्रके बड़े भारी विद्वान थे। उन्होंने अपने जीवनमें २५ वर्ष न्याय ही न्याय पढ़ा था। वे व्याकरण प्रायः नहीं जानते थे, एक दिन उन्होंने किसी प्रकरणमें अपने गुरूजी-से कहा कि जैसा "बाकी" होता है वैसा "व्रीति" क्यों नहीं होता ? उनके गुरू उनकी मूर्खता पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले तू बैल है। भाग जा यहाँ से। दुलारझाको बहुत बुरा लगा उसका एक साथी था, जो व्याकरण अच्छा जानता था और न्याय पढ़ता था। दुलारझाने कहा कि यहाँ क्या पढ़ते हो चलो घर पर हम तुम्हें न्याय बढ़िया से बढ़िया पढ़ा देंगे, साथी इनके साथ गाँवको चला गया-वहाँ उन्होंने उससे एक सालमें तमाम व्याकरण पढ़ डाला और एक साल बाद अपने गुरूके पास जाकर क्रोधसे कहा कि तुम्हारे बापको धूल दी, पूछ ले व्याकरण, कहाँ पूछता है। गुरूने हँसकर कहा आओ बेटा मैं यही तो चाहता था कि तुम इसी तरह निर्भीक बनो। मैं तुम्हारी निर्भी-कतासे बहुत सन्तुष्ट हुआ पर मेरी एक बात याद रक्खो-

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं नहि।
धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि॥

दुलारझा अपने गुरूकी क्षमाको देखकर नतमस्तक रह गये। क्षमासे क्या नहीं होता। अच्छे अच्छे मनुष्योंका मान नष्ट हो जाता है।

मार्दवका नाम कोमलता है, कोमलतामें अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीनमें बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायेगा। पानीकी बारिशमें जो जमीन कोमल हो जाती है उसीमें बीज जमता है। बच्चेको प्रारम्भमें पढ़ाया जाता है—

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥"

विद्या विनयको देती है, विनयसे पात्रता आती है। पात्रतासे धन मिलता है धनसे धर्म और धर्मसे सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदयमें विनय धारण नहीं किया वह धर्मका अधिकारी कैसे हो सकता है ? विनयी छात्र पर गुरूका इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलानेको तैयार रहता है। एक स्थान पर एक पण्डितजी रहते थे पहले गुरुओंके घर पर स्नेह अधिक था। पण्डितानी उनको बार २ कहतीं कि सभी लड़के तो आपकी विनय करते हैं आपको मानते हैं फिर आप इसी एक की क्यों प्रशंसा करते हैं ? पण्डितजीने कहा कि इस जैसा कोई मुझे नहीं चाहता। यदि तुम इसकी परीक्षा ही करनी चाहती हो तो मेरे पास बैठ जाओ। आमका सीज़न था, गुरूने अपने हाथ पर एक पट्टीके भीतर आम बाँध लिया और दुःखी जैसी सूरत बनाकर कराहने लगे। तमाम छात्र गुरूजीके पास दौड़े आये, गुरूने कहा दुर्भा-ग्यवश भारी फोड़ा हो गया है। छात्रोंने कहा मैं अभी वैद्य लाता हूँ। ठीक हो जायगा। गुरूने कहा बेटो ! यह वैद्यसे अच्छा नहीं होता—एक बार पहले भी मुझे हुआ था तब मेरे पिताने इसे चूसकर अच्छा किया था यह चूसनेसे ही अच्छा हो सकता है। मवादसे भरा फोड़ा कौन चूसे ? सब ठिठककर रह गये। इतनेमें वह छात्र आ गया जिसकी कि गुरू बहुत प्रशंसा किया करते थे। आकर बोला गुरूजी क्या कष्ट है ? बेटा फोड़ा है, चूसनेसे अच्छा होगा। गुरूके कहनेकी देर थी कि उस छात्रने उसे अपने मुँह में ले लिया। फोड़ा तो था ही नहीं आम था पण्डि-तानीको अपने पतिके वचनों पर विश्वास हुआ।

क्या कहें आजकी बात ? आज तो विनय रह ही नहीं गया। सभी अपने आपको बड़े से बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मन नहीं चला जाय इसकी फिकरमें सब पड़े हैं पर इस तरह किसका मान रहा है। आप किसीको हाथ जोड़ कर या सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदयसे मानरूपी शत्रुको हटाकर अपने आपका उप-कार करते हैं। किसीने किसीकी बात मानली, उसे हाथ जोड़ लिये सिर झुका दिया, इतनेसे ही वह खुश हो जाता है और कहता है इसने हमारा मान रख लिया—मान रख क्या लिया, मान खो दिया। अपने हृदयमें जो अहं-कार था उसने उसे आपके शरीरकी क्रियासे दूर कर दिया। कल आपने सम्यग्दर्शनका प्रकरण सुना था। जिस प्रकार अन्य लोगोंके यहाँ ईश्वर या खुदाका महात्म्य है वैसा ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्ममें सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है, सम्यग्दर्शनका अर्थ-आत्म-लब्धि है, आत्माके स्वरूपका ठीक ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धिके सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शनसे आत्माका महानगुण जागृत होता है, विवेकशक्ति जागृत होती है आज कल लोग हर एक बातमें क्यों ? क्यों ? करने लगते हैं, इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धा नहीं है । श्रद्धाके न होनेसे हर एक बातमें कुतर्क उठा करते हैं।

एक आदमीको क्योंका रोग हो गया, उससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ, पूछने पर सलाह दी कि तू इसे किसी-को बेच डाल, भले ही सौ पचास लग जांय। बीमार आदमी इस विचारमें पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय, किसीने सलाह दी स्कूलके लड़के बड़े चालाक होते हैं। ५०) रुपये देकर किसी लड़केको बेच दे, उसने ऐसा ही किया—एक लड़केने ५०) लेकर उसका वह रोग ले लिया सब लड़कोंने मिलकर ५०) की मिठाई खाई, जब लड़का मास्टरके सामने गया और मास्टरने पूछा कि कलका सबक दिखलाओ, लड़का बोला क्यों ? मास्टरने कान पकड़ कर लड़केको बाहर निकाल दिया । लड़का समझा कि क्योंका रोग तो बड़ा खराब है—वह उसको वापिस कर आया। अबकी बार उसने सोचा चलो अस्पतालके किसी मरीजको बेच दिया जाय तो अच्छा है, ये लोग तो पलंग पर पड़े पड़े आनन्द करते ही हैं । ऐसा ही किया, एक मरीजको बेच आया दूसरे दिन डाक्टर आये पूछा तुम्हारा क्या हाल है ? मरीजने कहा क्यों ? डाक्टरने उसे अस्प-तालसे बाहर कर दिया। उसने भी समझा दरअसलमें यह रोग तो बड़ा खराब है, वह भी वापस कर आया, अबकी बार उसने सोचा अदालती आदमी बड़े टंच होते हैं उन्हींको बेचा जाय, निदान उसने एक आदमीको बेच दिया, वह मजिस्ट्रेटके सामने गया मजिस्ट्रेटने कहा तुम्हारी नालिशका ठीक ठीक मतलब क्या है, आदमीनें कहा क्यों ? मजिस्ट्रेटने मुकदमा खारिजकर कहा कि घरकी राह लो, विचारकर देखा जाय तो इन हर एक बातोंमें कुतर्कसे काम नहीं चलता। युक्तिके बलसे सभी बातोंका निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि आपको धर्ममें श्रद्धा न होती तो यहाँ हजारोंकी संख्यामें क्यों आते ? यह कांतिलाल जी जो एक माहका उपवास किये हुये हैं क्यों करते ? आपका यहाँ आना और इनका उपवास करना यह सब सम्यग्दर्शनके श्रद्धान गुणका फल है । आचार्योंने सबसे पहले यही कहा है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्य-ग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। आचार्यकी करुणा बुद्धिको तो देखो—मोक्ष तब हो जबकि पहले बन्ध हो यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्षका परन्तु उन्होंने मोक्षमार्गका पहले वर्णन इसलिये किया है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्धजनित दुःखका अनुभव करते करते घबड़ा गये हैं, अतः पहले इन्हें मोक्ष-का मार्ग बतलाना चाहिए । जैसे कोई कारागारमें पड़कर दुःखी होता है वह यह नहीं जानना चाहता कि मैं कारा-गारमें क्यों पड़ा ? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागार से छूटूँ कैसे। यही सोचकर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है । सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक शक्ति सदा जागृत रहती है वह विपत्तिमें पड़ने पर भी कभी अन्यायको न्याय नहीं समझता। रामचन्द्रजी सीता-को छुड़ानेके लिए लंका गये थे, लंकाके चारों ओर उनका कटक पड़ा था, हनुमान आदिने रामचन्द्रजीको खबर दी कि रावण जिन मंदिरमें बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग इसकी विद्यासिद्धमें विघ्न करें, रामचन्द्रजीने कहा कि हम क्षत्रिय हैं कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें यह हमारा कर्तव्य नहीं है। सीता फिर दुर्लभ हो जायगी···हनुमान-ने कहा। रामचन्द्रजीनें जोरदार शब्दोंमें उत्तर दिया, हो जाय एक सीता नहीं दशों सीताएँ दुर्लभ हो जावें पर मैं अन्याय करनेको आज्ञा नहीं दे सकता।

रामचन्द्रजीमें इतना विवेक था उसका कारण क्या था ? कारण था उनका विशुद्ध क्षायक सम्य-ग्दर्शन। सीताको तीर्थयात्राके बहाने कृतांतवक्र सेनापति जंगलमें छोड़ने गया—उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या ? वह स्वामीकी परतन्त्रतासे गया था । उस वक्त कृतांतवक्रको अपनी पराधीनता काफ़ी खली थी। जब वह निर्दोष सीताको जंगलमें छोड़ अपने अपराधकी क्षमा मांग-कर वापिस आने लगता है तब सीता उससे कहती है—सेनापति ! मेरा एक संदेश उनसे कह देना, वह यह कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार लोकापवादके भयसे जिनधर्मको नहीं छोड़ देना। उस निराश्रित अपमानित स्त्रीको इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था? उसका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानताके अधिकार बतलाती। इतना ही नहीं सीता जब नारद जीके आयोजन-द्वारा लव-कुशके साथ अयोध्या वापिस आती हैं एक वीरतापूर्ण युद्धके बाद पिता पुत्रका मिलाप होता है, सीताजी लज्जासे भरी हुई राजदरबारमें पहुँचती हैं उसे देखकर रामचन्द्र कह उठते हैं-'दुष्टा! तू बिना शपथ दिये-बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ? तुझे लज्जा नहीं आई।' सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया कि मैं समझी थी आपका हृदय कोमल है, पर क्या कहूँ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ लें। रामचन्द्रजी ने उत्तेजनात्मक शब्दोंमें कह दिया कि अग्निमें कूदकर अपनी सचाईकी परीक्षा दो। बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्डमें सीता कूदनेको तैयार हुई। रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि सीता जल न जाय। लक्ष्मणने कुछ रोषपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया, यह आज्ञा देते समय नहीं सोचा। वह सती है, निर्दोष है, आज आप उसके अखण्डशीलकी महिमा देखिये उसी समय दो देव केवलीकी वन्दनासे लौट रहे थे, उनका ध्यान सीताके उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया, सीता अग्निकुण्डमें कूद पड़ी और कूदते ही साथ जो अतिशय हुआ सो सब जानते हो। सीताके चित्तमें रामचन्द्रजीके कठोर वचन सुनकर संसारसे वैराग्य हो चुका था। पर "निःशल्यो व्रती" व्रतीको निःशल्य होना चाहिए, यदि बिना परीक्षा दिए मैं व्रत लेती हूँ तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी, इसलिये उसने दीक्षा लेनेसे पहिले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामें वह पास हो गई, रामचन्द्रजी उससे कहते हैं देवी! घर चलो अब तक हमारा स्नेह हृदयमें था पर लोकलाजके कारण आंखोंमें आगया है।' सीताने नीरस स्वरमें कहा—

"कहि सीता सुन रामचन्द्र, संसार महादुःख वृक्ष कंद"
तुम जानत पर कछु करत नाहिं.....।

रामचन्द्रजी! यह संसार दुःखरूपी वृक्ष की जड़ है अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमें ही है। रामचन्द्रजीने बहुत कुछ कहा, यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि वह भी अपराधी हो तो अपने बच्चों लव-कुशकी ओर देखो और एक बार पुनः घरमें प्रवेश करो, पर सीता अपनी दृढ़तासे च्युत नहीं हुई, उसने उसी वक्त केश उखाड़कर रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिये और जङ्गलमें जाकर आर्या हो गई। यह सब काम सम्यग्दर्शका है। यदि उसे अपने कर्म पर भाग्य पर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थी।

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये, जो रामचन्द्र सीताके पीछे पागल हो रहे थे वृक्षोंसे पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्यामें लीन थे सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किये पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। शुक्लध्यान धारणकर केवलिअवस्थाको प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामें प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रगट होते हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यदि आपमें यह गुण प्रकट हुए हैं तो समझ लो कि हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायेगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। अनन्तानुबन्धीकी कषाय छः माहसे ज्यादा नहीं चलती, यदि आपकी किसीसे लड़ाई होने पर छः माह तक बदला लेनेकी भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्यावादी हैं। कषायके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें मनका स्वरूप यों ही शिथिल हो जाना प्रशमगुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थाके समय इस जीवकी विषय कषायमें जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती है। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे वह उसे छोड़ नहीं सकता हो, पर प्रवृत्तिमें शैथिल्य अवश्य आजाता है। प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है-सद्यः कृतापराधी जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावण पर जो रोष नहीं किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है। प्रशमगुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है, उसके छूटते ही प्रशमगुण प्रगट हो जाता है। क्रोध ही क्यों अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी मान माया-लोभ सभी कषाय प्रशम गुणके घातक हैं।

(सागर भाद्रपद १)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्य धर्म

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

आज सत्यधर्म है सत्यसे आत्माका कल्याण होता है। इसका स्वरूप अमृतचन्द्राचार्यने इस प्रकार कहा है कि—

यत्किंदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदेनृतमपि विज्ञेयं तद्-भेदाः सन्ति चत्वारः ॥ ९१

प्रमादके वश जो कुछ अन्यथा कहा जाता है उसे असत्य जानना चाहिये। उसके चार भेद हैं यहाँ आचार्यने प्रमादयोग विशेषण दिया है, प्रमादका अर्थ होता है कषायका तीव्र उदय, कषायसे जो झूठ बोला जाता है वह अत्यन्त बुरा है। असत्यका पहला भेद 'सदपलाप' है जो वस्तु अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे विद्यमान है उसे कह देना कि नहीं है, जैसे आत्मा है पर कोई कह दे कि आत्मा नहीं है वह 'सदपलाप' कहलाता है। दूसरा भेद 'असदुद्भावन' है जिसका अर्थ होता है असद्-अविद्यमान पदार्थका सद्भाव बतलाना। जैसे घट न होने पर भी कह देना कि यहाँ घट है। तीसरा भेद वह है जहाँ वस्तुको दूसरे रूप कह दिया जाता है जैसे गायको घोड़ा कह देना। गर्हित पापसंयुक्त और अप्रिय जो वचन है वह चौथे प्रकारका असत्य है। चुगलखोरी तथा हास्यसे मिश्रित जो कठोर वचन है वह गर्हित कहलाते हैं। बाज़े बाज़े आदमी अपनी पिशुन वृत्तिसे संसारमें कलह उत्पन्न करा देते हैं। कहो, मूलमें बात कुछ भी न हो परन्तु चुगलखोर इधर उधरकी लगाकर बातको इतना बढ़ा देते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। पं० बलदेवदासजीमें एक बड़ी अच्छी बात थी। वह आप सबको भी मान्य होगी। उनके समक्ष कोई जाकर यदि कहता कि अमुक आदमी आपकी इस तरह निन्दा करता था. वे फौरन टोक देते थे भाई वह बुराई करता हो इसका तो विश्वास नहीं, पर आप हमारे ही मुँह पर बुराई कर रहे हों—गालियाँ दे रहे हों। मुझे सुननेके लिये अवकाश नहीं। मैं तो तब मानूँगा जब वह स्वयं आकर हमारे सामने ऐसी बात करेगा और तभी देखा सुना जायेगा। यदि ऐसा अभिप्राय सब लोग करलें तो तमाम दुनियाके टंटे टूट जांय। ये चुगल जिस प्रकार आपकी बुराई सुनाने आते हैं वैसी आपकी प्रशंसा नहीं सुनाते।

कितने ही आदमी हँसीमें ऐसे शब्द कह देते हैं जो दूसरेके मर्मको छेदने वाले हो जाते हैं। अरे, ऐसी हँसी क्या कामकी जिसमें तुम्हारा तो विनोद हो और दूसरा ममातक पीड़ा पावे। कोई कोई लोग इतने कठोर वचन बोलते हैं—इतना रूखापन दिखलाते हैं जिससे कि समभावीका धैर्य भी टूटने लग जाता है कितने ही असम्बद्ध और अनावश्यक बोलते हैं। उनका यह चतुर्थ प्रकारका असत्य है। ये चारों ही असत्य प्राणीमात्रके दुःखके कारण हैं। यदि सत्य बोला जाय तो उससे अपनी हानि ही कौनसी होती है सो समझमें नहीं आता। सत्य वचनसे दूसरोंके प्राणोंकी रक्षा होती है, अपने आपको सुखका अनुभव होता है। हमारे गाँवकी बात है। मडावरेमें मैं रहता था मेरा एक मित्र था हरिसिंह। हम दोनों साथ-पढ़ते थे बड़ी मित्रता थी। इसके पिताका नाम मौजीलाल था और काकाका नाम कुंजीलाल। दोनोंमें न्यारपन हुआ तो कुंजीलालको कुछ कम हिस्सा मिला जिससे वह निरन्तर लड़ता रहता था। एक दिन मौजीलालने कुंजीलालको खूब मारा और अन्तमें अपना अंगूठा अपने ही दाँतोंसे काट कर पुलिसमें रिपोर्ट कर दी, उल्टा कुंजीलाल पर मुकदमा चला दिया। हमारा मित्र हरिसिंह हमसे बोला कि तुम अदालतमें कह देना कि मैं लुहर्रा गाँवमें अपने चाचाके यहाँ जा रहा था बीचमें मैंने देखा कि कुंजीलाल और मौजीलालमें खूब झगड़ा हो रहा था तथा कुंजीलाल मौजीलालका अंगूठा दाँतोंसे दबाए हुए था। मैंने बहुत मना किया पर वह न माना। मित्रका आग्रह देखकर मुझे अदालतमें जाना पड़ा, जब मेरा नम्बर आया और अदालतने मुझसे पूछा कि क्या जानते हो मैंने कह दिया कि मैं अपने चाचाके यहाँ लुहर्रा जा रहा था रास्तेमें इनका घर पड़ता था मैंने देखा कि कुंजीलाल और मौजीलालमें खूब लड़ाई हो रही थी और कुंजीलाल मौजीलालका अंगूठा दाँतोंसे दबाये हुए था। अदालतने पूछा और क्या जानते हो ? मैंने कहा और यह जानता हूँ कि हरसिंहने कहा था कि ऐसा कह देना। अदालतको बात जम गई कि यह मौजीलालने झूठा मामला खड़ा किया है इसलिये उसी वक्त खारिज कर दिया और मौजीलालको जो हिस्सा उसने ज्यादा रख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिया था वह भी देना पड़ा। यदि मैं वहाँ सत्य न बोलता तो व्यर्थ ही निरपराधी कुंजीलालको कष्ट होता। अब एक असत्य बोलनेका उदाहरण सुनो—मैं तो अपनी बीती बात ही अधिकतर सुनाता हूँ—

मैं मथुरामें पढ़ता था, मेरा मन कुछ उचाट हुआ सो सोचा कि बाईजीके पास हो आऊं। विद्यालयके मन्त्री पं० गोपालदासजी बरैया थे। मैंने एक झूठा कार्ड लिखा कि भैया! मेरी तबीयत खराब है तुम १५ दिनकी छुट्टी लेकर चले आओ। नीचे दस्तखत बना दिये बाईजीके और मथुराके ही लेटर बक्समें छोड़ दिया। जब वह हमारे पास आया तब मैंने करोड़ीलाल मुनीमको छुट्टीकी अर्जी लिखी और साथमें वह कार्ड भी नत्थी कर दिया। मुनीमने वह दोनों पं० गोपालदासजीके पास आगरा भेजे दिये। पं० जीने लिख दिया कि छुट्टी दे दो और उससे कह दो जब वापिस आवें तब हमसे मिलता जाय। मैं बाई जीके पास गया और १५ दिन बाद लौट कर आया तो पण्डितजीके लिखे अनुसार उनसे मिलनेके लिये गया। उन्होंने पूछा कि कहो बाईजीकी तबीयत ठीक हो गई? मैंने कहा 'हाँ', उन्होंने भोजन कराया जब मथुराको जाने लगा तब बोले यह श्लोक याद कर लो—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्त्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥

श्लोक तो बिल्कुल सीधा साधा था याद हो गया। मेरा विचार हुआ कि मैंने जो पत्र बाईजीके नामसे लिखा था—वह मथुरामें ही तो छोड़ा था उस पर मुँहर मथुरा की ही थी टीकमगढ़की नहीं थी, संभव है पण्डितजीको यही हमारी गलत चालाकी पकड़में आगई है। मैंने साफ कह दिया पण्डितजी! मैं बहुत असत्य बोला बाईजीकी तबीयत खराब नहीं थी मैंने वैसे ही झूंठ मूठ चिट्ठी लिख दी थी। उन्होंने कहा बस हो गया, कुछ बात नहीं और मुनीमको चिट्ठी लिख दी कि यह कुछ कमजोर है अतः इसे ३) तीन रुपया माह दूधके लिये दे दिया करो। मुझे अपनी असत्यता पर बहुत शर्मिन्दा होना पड़ा। पर यह भी लगा कि मैंने अन्तमें उनसे सच सच बात कह दी इसीलिये ही वे प्रसन्न हुए हैं।

जीवन भर सत्य बोलो और एक बार असत्य तो तमाम जीवन की प्रतिष्ठा पर पानी फिर जाता है। एक बारका झूठ भी लोगोंको बड़े संकटमें डाल देता है। एक गाँवमें एक सेठ सेठानी रहते थे उनके पास एक आदमी कामकी तलाशमें पहुँचा सेठने पूछा, क्या क्या कर सकते हो। उसने कहा जो भी आप बतलाओ सब कर सकता हूँ। वेतन क्या लोगे। कुछ नहीं सिर्फ सालमें एक बार आपसे और एक बार सेठानीसे झूठ बोलूंगा। सेठने सोचा ऐसा बेवकूफ कब फँसेगा, मुफ्तका नौकर मिलता है लगा लेना अच्छा है, यह सोच कर उन्होंने उसे रख लिया। साल भर काम कर चुकनेके बाद जब वह जाने लगा तब बोला सेठजी अब मैं जाऊँगा कल झूठ बोलूंगा, सेठने कुछ ध्यान नहीं दिया। शामके वक्त जाकर सेठजी से बोला कि मुझे आपका घर अच्छा लगा पर क्या बताऊँ आपकी सेठानी यदि बदचलन न होती तो दुनिया में आपका घर एक ही होता। आज वह अपने जारके कहनेसे रातको आपका काम तमाम करेगी इसलिए आप सतर्क रहें। नौकरने यह बात इस ढंगसे कही कि सेठको बिलकुल सच जम गई। अब वह सेठानीके पास पहुँचा और बोला कि तुम्हारीसी देवी तो दुनियामें नहीं है यदि सेठजी वैश्याओंके यहाँ न जाते तो तुम्हारे क्या सन्तान न होती। सेठानीको बात जम गई, उसने उपाय पूछा तब कहने लगा आज रातको जब सेठजी सो जांय तब उस्तरासे उनके एक तरफकी दाढ़ी मूंछ बना डालना जिससे उनकी सूरत शकल खराब दिखने लगेगी और तब वेश्यायें उन्हें अपने पास नहीं आने देंगी। सेठानीने ऐसा ही किया। सेठजी आज नौ बजेसे ही कृत्रिम खुर्राटे लेने लगे, सेठानीने देखा कि सेठजी गाढ़ी निद्रामें मस्त हैं, अब इनकी डाढ़ी मूंछ बनाना ठीक होगा। उस्तरा निकाला उसे सिल्ली पर घिस कर खूब पैना किया, बालों पर पानी लगाया और बनानेको तैयार हुई कि सेठजी उठ खड़े हुए और बोले दुष्टे! यदि आज वह नौकर मुझे सचेत न कर देता तो तू जान ही ले लेती! वह भी बोली बिलकुल ठीक है तुम आज तक वेश्याओंके यहाँ जा जा कर हमको दुःखी करते रहे उसने ठीक कहा था मुझसे। दोनोंमें खूब झड़ी, इतनेमें नौकर आया और बोला सेठजी माफ़ करो अब मैं जाता हूँ, जो मैंने कहा था कि एक एक बार मैं झूठ बोलूंगा सो बोल लिया। खासी दिल्लगी रही। अरे! जरा सोचो तो एक बारकी झूठने कितना उपद्रव मचा दिया पर जो जिंदगी भर झूठ बोलते हैं उनका ठिकाना ही क्या। यह पांचवाँ सत्यधर्म है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि इसकी रक्षा चाहते हों तो क्रोध, लोभ, भय और हास्यको छोड़ो। यही झूठ बोलनेके कारण हैं। इन पर विजय प्राप्त करो और साथमें इस बातका भी खयाल रखो कि कभी मेरे मुँहसे उत्सूत्र-आगमके विरुद्ध वचन न निकलें। अपने वचनोंकी कीमत अपने आप बनाई जा सकती है।

अब यह 'पंचाध्यायी' है इसमें सम्यग्दर्शनका प्रकरण चल रहा है। वास्तवमें पूछो तो सम्यग्दर्शन ही संसारकी जड़ काटनेवाला है, जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया उसका संसार नष्ट हुआ ही समझो आज सम्यग्दर्मनके अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणका वर्णन है। पर दुःख प्रहाणेच्छाको (दूसरोंके दुःख नाश करनेकी अभिलाषाको) अनुकम्पा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि अपने सामने किसीको दुःखी नहीं देख सकता। उसके हृदयमें सच्ची समता आ जाती है, कंचन और काँचमें उनकी समता हो जाती है, समताका अर्थ यह नहीं कि उसे इन दोनोंका ज्ञान नहीं रहता यदि ज्ञान न रहे तो हम लोगोंसे भी अधिक अज्ञानी हो जाय, पर ज्ञान रहते हुए भी वह हर्ष-विषादका कारण नहीं होता। सच्ची समता जिसे प्राप्त हो गई उसे कोई कष्ट नहीं दे सकता। प० देवीदासजीके जीवनकी एक घटना है। उनके सामायिकका नियम था वे रास्ता चल रहे हों जंगल हो चाहे पहाड़, यदि सामायिकका समय हो जाय तो वे वहीं बैठ जाते थे। एक बार वे कुछ साथियोंके साथ घोड़ापर सामान लादे हुए जा रहे थे भयंकर जंगल था, शामका समय हो गया, वे वहीं ठहर गये सब गठरी उतारकर रख दी और घोड़ेको पास ही छोड़ दिया। साथियोंने बहुत रोका कि यहाँ चोरोंका डर है आगे चलकर रुकेंगे पर यह नहीं माने। इन्होंने साफ कह दिया चोर सब कुछ ले जायें. पर सामायिकका वख्त नहीं टाल सकते। ये सामायिकमें निश्चल होगये, चोर आये और इनकी गठरियाँ ले गये। वे अपनी सामायिकमें ही मस्त रहें। कुछ दूर जाने पर चोरोंके मनमें आया कि हमने उसकी चोरी व्यर्थ की, वह बड़ा शांत आदमी हैं उसने एक शब्द भी नहीं कहा। सब लौटे और उनकी गठरियाँ वापिस दे गये, अब तक इनका सामायिक पूरा हो चुका था, चोरोंने कहा कि आपकी शांतवृत्ति देखकर हम लोग की हिम्मत आपकी गठरियाँ ले जानेकी नहीं हुई। आप खुशीसे जाओ कहकर उन्होंने उनका घोड़ा लाद दिया। पण्डितजी धर्मके प्रभावका अनुभव करते हुए चले और उन चोरोंने इनके उन साथियोंको जो आगे चले गये थे बुरी तरह पीटा तथा सब सामान छुड़ा लिया। समता परिणाम कभी व्यर्थ नहीं जाते। तत्त्वार्थ जप, तप और उसके फलमें विश्वास होना आस्तिक्य कहलाता है यदि इन कार्योंमें विश्वास न हो तो फोकटमें कष्ट सहन कौन करे? दान करनेसे पुण्य होता है। आगामी पर्यायमें उसका अच्छा फल मिलता है। इसी विश्वास पर ही दान करते हों नहीं तो ५) दान कर देने पर १००) के ९५) तो अभी ही रह जाते हैं। दान आदिसे ही प्रभावना होती है। अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है कि—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

इन दिनोंमें सम्यग्दर्शनादि आपके हृदयमें उत्पन्न हुए ही होंगे, तप कर ही रहे हों, पूजा खूब करते हों, यदि कुछ दान करने लगो तो उससे जैनधर्मकी क्या प्रभावना नहीं होगी। आप चतुर्दशीके दिन उपवास करोगे यदि उस दिनका बचा हुआ अन्न गरीबोंको खिला दोगे तो तुम्हारी क्या हानि हो जायेगी। सब तुम्हारा यश गायेंगे और कहेंगे कि जैनियोंके व्रत लगे हुए हैं इनमें यह गरीबोंका भी ध्यान रखते हैं। आप लोग चुप रह गये इससे मालूम होता है कि आपको हमारी बात इष्ट है।

एक बार एक राजाने अपनी सभाके लोगोंसे कहा कि दो शब्दोंमें मोक्षका मार्ग बतलाओ, नहीं तो कठोर दण्ड पावोगे। सब चुप रह गये किसीके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकल सका। एक वृद्ध बोला, महाराज आपके प्रश्नका उत्तर हो चुका। राजाने कहा कोई बोला है ही नहीं उत्तर कैसे हो गया? बुद्धने कहा आप प्रश्न करना जानते हैं पर उत्तर समझना नहीं जानते। देखो, सब शान्त हैं और शान्ति ही मोक्षका मार्ग है। यह सब लोग अपनी चेष्टासे बता रहे हैं।

इसी प्रकार आप लोग भी चुप बैठे हैं मालूम होता है आप अवश्य इस बात का खयाल रक्खेंगे। यहाँ पाँच सौ सात सौ घर जैनियों के हैं यदि प्रतिदिन आधा आधा सेर अन्न हर एकके घरसे निकलें तो एक हजार आदमियोंका पालन अनायास होजाय। पर उस ओर ध्यान जाय तब न। एक-एक औरत अपने पास पचासों कपड़े अना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्यक रोके हुए हैं यदि ये अपनी आवश्यकताके कपड़े बचाकर दूसरोंको दे दें तो वस्त्रका अकाल आज ही दूर होजाय। अरे तुम दो सौ की साड़ी पहिनकर निकलो और दूसरेके पास साधारणसा वस्त्र भी न हो तब देखकर उन्हें डाह न हो तो क्या हो ?

लोग कहते हैं जिओ और जीने दो, पर जैनधर्म कहता है कि न जिओ और न जीने दो। संसारमें न स्वयं जन्म धारण करो और न दूसरेको करने दो। दोनोंको मोक्ष हो जाय ऐसी इच्छा करो।

(सागर चातुर्मासमें दिये हुए प्रवचन से)

शौच-धर्म

(ले० पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य)

शौचका सामान्य और सीधा अर्थ पवित्रता है। यह पवित्रता आत्मामें लोभ-कषायके अभावमें प्रकट होती है। यों तो आत्माकी पवित्रताके रोधक सभी कषाय और कर्म हैं, किन्तु लोभ-कषाय आत्माकी उस पवित्रताको रोकती है जो आत्माको मुक्तितक पहुँचाती है और मुक्तिमें अनन्त काल तक विद्यमान रहती है। यही कारण है कि यथाख्यातचारित्र भी, जो प्रायः उक्त पवित्रतारूप ही है, लोभके अभाव में ही आविर्भूत होता है। इसलिये पवित्रताविशेषको शौचधर्म कहना उचित ही है। बात यह है कि लोभ आत्माके अन्य तमाम गुणों पर अपना दुष्प्रभाव डाल कर उन्हें मलिन बना देता है। सब पापों और दुर्गुणोंका भी वह जनक है। लोभसे मन, वाणी तथा काय तीनों दूषित हो जाते हैं और उन तीनों का सम्बन्ध आत्माके साथ होने से आत्मा भी दूषित बन जाता है। अतः मन वाणी और कायको दूषित न होने देनेके लिये यह आवश्यक है कि लोभ कषायसे बचा जाय। अर्थात् शौच-धर्म का पालन किया जाय। शौच धर्म आत्माका एक स्वाभाविक गुण है जो प्रकट होते ही आत्माके अन्य गुणों पर भी अपना चमत्कारपूर्ण असर डालता है। मन, वाणी और शरीर तीनों उसके सद्भावमें शुद्ध हो जाते हैं। कितना ही ज्ञान और कितना ही चारित्र क्यों न हो, इस गुणके अभाव में वे मलिन बने रहते हैं।

पाठकोंको उस ब्राह्मण विद्वानकी कहानी ज्ञात होगी, जिसने लोभमें आकर अपना पतन किया था। उसने अपने जाति-कुलका ख्याल रखा था और न अपने विशाल पाण्डित्यकाभी विचार किया था। वेश्याके लोभमें फँसकर अपना सर्वनाश किया था। एक पात्र साधु साधु होकर भी लोभ-पिशाचके वशीभूत होकर जीवनकी तपोमय साधनाको भी खो बैठा था। अतः आत्माको शौच-धर्मके पालन द्वारा ही ऊँचे उठाया जा सकता है।

आज संसारके व्यक्तियोंमें सन्तोष आ जाय, लोभकी मात्रा कम हो जाय, न्यूनाधिकरूपमें यह शौच-गुण समा जाय तो संसार तृष्णाकी भट्टीमें जलनेसे बच सकता है और सुख शांतिको प्राप्त कर सकता है।

विचारनेकी बात है कि लोकमें पदार्थ तो सीमित हैं परन्तु लोगोंकी इच्छाएँ असीमित हैं। यदि पदार्थोंका बटवारा किया जाय तो सबको उनकी इच्छानुसार मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये सन्तोष अथवा शौच गुणही एक ऐसा वस्तु है जो आत्माको सुख व शांति प्रदान कर सकती है। इसी आशयसे एक विद्वानने कहा है—

आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथैव वो विषयैषिता॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणीकी इच्छाओंका गड्ढा इतना है कि उसमें समग्र विश्व परमाणुके बराबर है। ऐसी स्थितिमें किसको क्या और कितना मिल सकता है? अतः विषयोंकी इच्छा करना व्यर्थ है।

जीवनको स्थिर और स्वस्थ रखनेके लिये जितनी आवश्यकता हो उतनी वस्तुओंको रखो। शेषको दूसरों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के उपभोगके लिये छोड़ दो। इस मनोवृत्तिसे न केवल मनुष्य सुखी ही होगा, अपितु यशस्वी भी बनेगा शौचगुणके अभिव्यक्त करनेमें भी वह अग्रसर होगा। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो सकती है, जब अन्तर और बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़नेमें समर्थ हो सकता है और 'परमेको मुनिः सुखी' इस अवस्थाको प्राप्तकर सकता है। अतएव इस शौच धर्मका पालन गृहस्थ और मुनि दोनों ही अपने २ परिणामों एवं परिस्थितियोंके अनुसार कर सकते हैं।

जनधर्ममें शौचधर्मको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। गंगा यमुना आदि नदियों या समुद्रादिमें स्नान करनेसे यह धर्म प्राप्त नहीं होता। यह तो निर्लोभ वृत्तिसे प्राप्त होता है। यदि हमारे भारतीय-जन सन्तोष बनाम शौच गुणको अपना लें तो भ्रष्टाचार, असन्तोष, वस्तुओंकी दुर्लभता आदि दोष, जो आज देखनेमें आ रहे हैं, देशमें नहीं रहेंगे और जनता मुसीबतों, कष्टों, परेशानियों और दुःखोंमें नहीं फंसेगी।

निर्लोभवृत्तिसे जो अच्छे आचार तथा विचारोंका अंकुर उगेगा वह समयपर इतने प्रचुर फलों एवं विपुल छायासे सम्पन्न वृक्ष होगा, जिसके नीचे बैठ कर प्रत्येक मानव-जन आनन्द और परम शान्तिका अनुभव कर सकता है।

श्री समन्तभद्रविद्यालय, देहली
२६ अगस्त, १९५३

आर्जव

[अजितकुमार जैन]

हृदयके विचारोंके अनुसार वाणी और शारीरिक व्यापारको यदि एक शब्द-द्वारा कहना हो तो वह शब्द "आर्जव" है, ऋजुता या सरलता भी उसी के अपर-नाम हैं।

चरित्रबलसे हीन व्यक्ति जिस तरह अपनी निर्बलता पर आवरण डालनेके लिये हिंसा, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि पापाचरणको अपनाता है उसी तरह वह आत्म-निर्बलताके कारण ही छल, फरेब, धोखाधड़ीको काममें लेता है। कपटाचार मनुष्यको बनावटी रूपमें बदल देता है। वह जनताके लिये भयानक वन्य पशुसे भी अधिक भयानक बन जाता है। भेड़िया यदि बाहर से भेड़िया है तो अन्तरङ्गसे भी भेड़िया ही है। उसको देखकर प्रत्येक जन्तु उसके भयानक आक्रमणसे सुरक्षित रहनेका यत्न कर सकता है, परन्तु कपटी मनुष्य ऐसा भयानक भेड़िया है कि उसके आक्रमणसे कोई भी जन्तु अपने आपको नहीं बचा सकता।

वह दीखनेमें बहुत साधु नजर आता है, वाणी उसकी मिश्रीसे भी अधिक मीठी होती है परन्तु हृदय भयानक विषसे भरा हुआ घड़ा होता है। अपनी कोकिलकण्ठी वाणीसे अन्य व्यक्तिको अपने पंजेमें फंसाकर वह नर-भेड़िया अपने उस हृदयमें भरे विषकी बौछार करके उस व्यक्तिको अचेत-क्रियाशून्य कर देता है। अपने स्वार्थ-साधनके लिये वह अन्य व्यक्तिका सर्वनाश करते भी नहीं चूकता।

अपने कपटाचारसे वह अपने आपको मुलम्मेसे भी अधिक चमकीला बनाता है, जिससे जनसाधारण उसे खरा सोना समझकर सोनेका मूल्य उसे दे डालता है, किन्तु उसको उस मूल्यकी हार्दिक वस्तु उस कपटीसे नहीं मिल पाती, इस तरह वह जनताको बहुत क्षति पहुँचाता है। उस कपटीकी आदत यहाँ तक बिगड़ जाती है कि साँप यदि बाहर टेढ़ा चलता है तो कम से कम अपने बिलमें घुसते समय तो सीधा ही चलता है। अपने परिवारके व्यक्तियोंको भी धोखा देते हुए वह नहीं चूकता।

किन्तु मुलम्मा अपनी चमक आखिर कब तक स्थिर रख सकता है, साधारणसा वातावरण ही उसकी चमकको काला कर देता है, उस दशामें समस्त जगत उसका जघन्य मूल्य तुरन्त आंक लेता है और फिर उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ठीक ऐसा ही हाल कपटी मनुष्यका होता है, कपटी मनुष्यका कृत्रिम मायाजाल जब छिन्न भिन्न हो जाता है तब उसका भयानक नंगा रूप जनताके सामने आते हुए देर नहीं लगती । उस समय जनताकी दृष्टिसे वह एक दम गिर जाता है और उसकी प्रतिष्ठा तथा विश्वास सदाके लिये समाप्त हो जाते हैं । घरमें तो उस पर किसीका विश्वास रहता ही नहीं ।

जिस मनुष्यका विश्वास संसारसे उठ गया, एक तरहसे वह मनुष्य ही संसारसे उठ गया । क्योंकि विश्वासपात्रता ही जीवनका प्रधान चिन्ह है ।

कपटीका हृदय तो निर्भीक हो ही नहीं सकता, क्योंकि सदा उसको अपनी बनावट-कलई खुल जानेका भय बना रहता है ।

उसका धर्माचरण भी निःसार, निस्तेज एवं उपहासजनक होता है जनता उसके धार्मिक आचरणको 'बगलाभक्ति' का रूप देकर अन्य धार्मिक व्यक्तियों के लिये भी अपनी वैसी ही धारणा बना लेती है। इस प्रकार छली-कपटी मनुष्य धार्मिक जगतमें महान पापाचारी माना गया है ।

जो मनुष्य कपटाचार से दूर रहते हैं अपने मनोविचारोंके अनुसार ही बोलते हैं तथा करते हैं, वे व्यक्ति सदा बनावटसे दूर रहते हैं, चापलूसी, खुशामदसे उन्हें घृणा होती है, वे किसीको प्रसन्न करनेके लिये कुछ कार्य नहीं करते बल्कि आत्म-संतोषके लिए ही सब कुछ करते हैं ।

भय तो उनके हृदयमें कभी उत्पन्न ही नहीं होता । उन्हें अपने बचन पर पूर्ण विश्वास और अचल दृढ़ता रहती है, संसार उसके वचनको प्रामाणिक समझता है । धार्मिक आचरणसे उनका सौन्दर्य नहीं बढ़ता बल्कि उनके कारण उस धर्माचरणका स्वच्छरूप हो जाता है । जनतामें उसका सम्मान स्वयं बढ़ता चला जाता है ।

निश्छल व्यक्ति संसारको निर्भयता और मूलभूत धार्मिकताका पाठ पढ़ाता है । उसका प्रत्येक शब्द उसके हृदयसे निकलता है अतः दूसरे व्यक्तिके हृदयको तुरन्त प्रभावित करता है, इसी कारण उसका वचन तेजस्वी, प्रभावशाली होता है । उसकी करनी अन्य सज्जन व्यक्तियोंके लिये अनुकरणीय बन जाती है । तभी तो कहा गया है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

अर्थात्—कपटी मनुष्य पापी होते हैं और सरलचित्त व्यक्ति महात्मा होते हैं ।

उत्तम तप

(पी० एन० शास्त्री)

इच्छाओंका रोकना तप है * । तप जीवन-शुद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक है । बिना किसी तपश्चरणके आत्म-शुद्धिका होना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है । जिस तरह खानसे निकलने वाले सुवर्ण पाषाणसे प्राप्त सोनेको शुद्ध बनानेके लिये अग्निसंतापनादि प्रयोगों द्वारा सुवर्णकार उसे शुद्ध बनाता है । उक्त प्रक्रियाके बिना सोनेका वह शुद्ध रूप प्राप्त नहीं हो सकता, जिसे 'कंचन' या सौटंचका सोना कहा जाता है । ठीक उसी प्रकार अनादि कालसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप परिणतिसे होनेवाले कर्मबन्धनसे आत्मा मलिन हो रहा है—उसकी अशुद्धताको दूर करनेके लिए तपश्चरण करना अत्यन्त जरूरी है । बिना उस प्रयत्नके आत्म-शुद्धि करना सम्भव नहीं जँचता

यह मानव अनादि कालसे मोही होनेके कारण अमित इच्छाओंका केन्द्र बन रहा है । एक अभिलाषा अथवा इच्छा पूरी नहीं हो पाती, तब तक दूसरी आ धमकती है । इस तरह जीवनके साथ इनका प्रतिसमय तांता लगा रहता है । एक समयको भी इनसे छुट्टी नहीं हो पाती । इच्छाएँ अनन्त हैं और मानव जीवन सीमित अवस्थाको लिये हुए है अतः उन अनन्त इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती है ? यदि कदाचित् किसी अभिलषित इच्छाकी पूर्ति भी हो जाय तो तत्काल अन्य अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी स्थितिमें इच्छाओंकी अपूर्ति सदा बनी ही रहती है, इच्छाका नाम ही दुःख है । जिसकी जितनी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं वह उतना ही अधिक लोकमें सुखी माना जाता है । पर वास्तवमें इच्छा पूर्तिसे सुख नहीं मिलता, वह कोरा सुखाभास है—झूठा सुख है;

* 'इच्छानिरोधस्तपः'—तत्त्वार्थसूत्रे गृद्धपिच्छाचार्यः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि इच्छा ही दुःख है, इच्छा ही परिग्रह है, मोह और अज्ञानका परिणाम है। जिसके जितनी अधिक इच्छाएँ हैं वह उतना ही अधिक परिग्रही अथवा मोही है, और अनन्त दुखोंका पात्र है। यह अज्ञ प्राणी बाह्य इच्छापूर्ति मात्रको सुख समझता है इसीसे रातदिन उन्हींकी पूर्तिमें लगा रहता है, और उसके लिए अनेक प्रयत्न करता है। चोरी, दगाबाजी, विश्वासघात, और छल-कपट आदि अनेक दूषित वृत्तियोंके द्वारा इच्छाकी पूर्तिके लिये दौड़ धूप करता रहता है। उसीके लिये समुद्रों और पर्वत तथा कन्दराओं-की सैर करता है, अनेक कष्ट भोगता है और कार्य सिद्धिके अभावमें विकल हुआ मानसिक सन्तापसे उत्पीड़ित रहता है हजारपतिसे लेकर लखपति या करोड़ पति अथवा अरबपति बन जाने पर भी सुखी नहीं देखा जाता वह दुःखी ही पाया जाता है। आचार्य गुणभद्रने कहा है कि—

आशागर्तःप्रतिप्राणि यस्मिन्विश्वमणूपमम् ।
किं कदा कियदायाति वृथा वा विषयैषिता ॥

'इस जीवका आशारूपी खाड़ा इतना गहरा है कि उसमें विश्वकी समस्त सम्पदा अणुके समान है। तब किसके हिस्सेमें कितनी आवेगी ? अतः इस विषयेषणाको धिक्कार है।'

जिस तरह सहस्त्रों नदियोंके जलसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती उसी तरह पंचेन्द्रियोंके विषयोंका अनादिकालसे सेवन करते हुए भी जीवकी तृप्ति नहीं होती। भोग उप-भोगकी आकांक्षाएँ संसारवृद्धिकी कारण हैं उनसे तापकी शान्ति नहीं हो सकती। उनसे उल्टी तृष्णाकी अभि-वृद्धि ही होती है। अतएव हमें चाहिये कि कर्मोदयसे प्राप्त भोग उपभोगकी सामग्रीमें सन्तोष रखते हुए अपनी इच्छाओंकी प्रवृत्तिको सीमित बनानेका यत्न करें। यम और नियमका सावधानीसे पालन करें, क्योंकि ये दोनों ही गुण इच्छाके निरोधमें कारण हैं। जीवनमें यम और नियम रूप प्रवृत्तिसे संयमका वह छिपा हुआ रूप सामने आ आता है, और फिर लोकमें अशान्तिकी वह भीषण बाधा भी दूर होने लगती है।

ऊपर बतलाया गया है कि इच्छाओंका निरोध तपसे होता है। वह तप दो प्रकारका है। बाह्य और अन्तरंग। दोनों ही तप अपने छह छह भेदोंको लिये हुए हैं—इस तरह तपके कुल बारह भेद हैं, अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और काय-क्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनमेंसे आदिके छह तप बाह्य हैं, इनका आचरण बाह्य जीवनमें दिखता है इसीसे इन्हें बाह्य कोटि में रखा गया है। इनका साधन अन्तस्तपकी वृद्धिके लिये किया जाता है। परन्तु अन्तस्तप आत्मासाधनामें विशेष उपयोगी हैं। उन्हींसे कर्मशृंखलाका जाल कटता है। इन अन्तरंग तपोंमें स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों ही तप मुमुक्षु योगीके लिये विशेष महत्वके हैं। योगीको ध्यान एवं स्वाध्यायसे उस आत्मबलकी प्राप्ति होती है जो कर्म-की क्षपणा अथवा क्षय करनेकी सामर्थ्यको लिये हुए है। यही कारण है कि जब योगी आत्म-समाधिमें स्थित हो जाता है तब उसके बाह्य और आभ्यन्तर इच्छाओंका पूर्णतया निरोध हो जाता है। इच्छाओंके निरोध होनेसे तज्जन्य संकल्प-विकल्पोंका भी अभाव हो जाता है। और आत्मा अपने सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रादि गुणोंमें एकनिष्ठ होते ही मोहकर्मकी उस सुदृढ़ सांकलको खंडित कर देता है जिसके टूटते ही कर्मोंके सभी बन्धन अशक्त बन जाते हैं—फलदानकी सामर्थ्यसे रिक्त हो जाते हैं। और आत्मा क्षणमात्रमें उनके भारसे मुक्त होकर अपनी अक्षय सम्पदा का स्वामी बन जाता है। तपकी अपूर्व सामर्थ्य है जो जीवको दुःखपरम्परासे छुड़ाकर त्रैलोक्यके जीवोंके द्वारा अभिवंद्य एवं उपास्य बना देती है।

अतः हम सबका कर्त्तव्य है कि हम भी अपने जीवन-को संयत बनानेका यत्न करें। अपनी इच्छाओंको सीमित कर स्वस्थ, सुखी बनें और आत्मबलको उन्नत करें, तथा दुःखोंसे छूटनेका प्रयत्न करें। आज हम लोग असीमित इच्छाओंके कारण अर्थसंचय और विविध भोगोंके उपभोगकी लालसामें लगे हुए हैं। अपनी स्वार्थपरतासे एक दूसरेका बुरा सोचते हैं, दूसरोंकी सम्पत्ति और उनके भोगोंको प्रवृत्तिसे असन्तोष एवं डाह करते हैं। स्वयं परिग्रहका संचय करते हैं, असत्य बोलते हैं, दूसरेकी चुगली करते हैं, और अपने असहिष्णु व्यवहारसे अपनी आत्मवंचना करते हुए जगतको ठगने अथवा धोखा देनेका यत्न करते हैं, यह कितनी अज्ञानता है। अतः हमें चाहिए कि हम भी अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण कर तपकी महत्ताका मूल्यांकन करते हुए सन्तोषी, सुखी बनें, तथा एक देश तपस्वी बन कर अपना हित साधन करें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहकी वृत्ति और त्याग धर्म

(ले० श्री पं० चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ)

धर्म आत्माकी उस वृत्ति अथवा प्रवृत्तिका नाम है जो मनुष्यके आध्यात्मिक एवं वैयक्तिक अभ्युदयका कारण हो। धर्मका यह लक्षण मनुष्य-परक है। सारे संसारके प्राणियोंमें मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है। पशु-पक्षी और देव-नारकोंमें भी धर्मवृत्ति जागृत होती है और वे भी अपने आध्यात्मिक उत्थानकी ओर प्रवृत्त हो सकते हैं—इसलिए धर्मका लक्षण ऐसा भी है जो मनुष्यातिरिक्त-प्राणियोंमें भी मिल सके। जो आत्माको दुःखोंसे उन्मुक्त करे वही धर्म है, और वह धर्म सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चे चरित्रके रूपमें प्रस्फुटित होता है। इसके विपरीत जो कुछ है वह अधर्म है। यह धर्मका सामान्य लक्षण है।

चरित्रके रूपमें जो धर्म प्रस्फुटित होता है उसकी नाना शाखाएँ हैं। त्याग भी उसका एक रूप है। त्याग धर्म भी मनुष्य-परक है, क्योंकि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणियों में संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मनुष्य-संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, इसलिए कोई भी विवेचन उसीकी मुख्यतासे किया जाता है। संग्रह और त्याग, पात्र और अपात्र, संसार और मुक्ति, पुण्य और पापके सारे विवेचन मनुष्यको लक्ष्य करके किये गये हैं। सम्भव है किसी किसी पशु अथवा पक्षीमें भी संग्रहकी भावना हो, पर ऐसे अपवाद नगण्य समझे जाते हैं मनुष्यमें तो संग्रहकी प्रवृत्ति जन्मजात है। बच्चा भी और नहीं तो अपने खेलोंका संग्रह तो करने ही लगता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य बड़ा होता जाता है उसके संग्रहकी भावनामें वृद्धि होती जाती है। वह जीवनके अन्त तक भी इस संग्रहके अभ्याससे विरक्त होना नहीं चाहता। दुखकी बात तो यह है कि इस संग्रहकी प्रवृत्तिमें जो जितना अधिक सफल होता है इस संसार में वह उतना ही आदरणीय सत्कृत और पुरस्कृत माना जाता है। राजाओं, सम्राटों और धनिकोंके सारे यशोगानका कारण उनका अपार संग्रह ही है।

जब मनुष्य देखता है कि संग्रहशील अर्थात् धनसंचयकारियोंका हर जगह सम्मान होता है तो वह भी उनका अनुकरण करता है और अपने इस मनोरथमें सफल होनेके लिये वह उचित अनुचित सब प्रकारके प्रयत्न करता है। न्याय और अन्यायका भेद वह उस समय भूल जाता है जब धन संग्रहका अवसर होता है। त्यागके प्रकरणमें संग्रहका अर्थ यद्यपि केवल धनसंग्रह ही नहीं है, किन्तु संसारके सारे संग्रह धनसे खरीदे जा सकते हैं इसलिये संग्रह शब्दसे मुख्यतः धनसंग्रह ही लिया जाता है। दुनियांके प्रतिशत निन्यानवें पापोंका कारण संग्रह ही है। जब से मनुष्यमें संग्रहकी भावना उत्पन्न हुई है तभीसे मानव समाजमें दुःखों और पापोंकी सृष्टि भी देखी जाती है। संग्रह पाप और दुःख इन सबकी एक परम्परा है। संग्रहसे पाप पैदा होते हैं और वे ही दुःखका कारण हैं। जैनशास्त्रोंकी भोगभूमिमें कोई मनुष्य दुःखी नहीं था, इसका कारण केवल यही था कि उस समय के मनुष्यमें संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं थी। तब मनुष्यकी इच्छाएँ भी कम थीं। आज तो मनुष्यकी अपरिमित इच्छाएँ हैं और इनका सारा उत्तरदायित्व संग्रह पर है। कविने ठीक ही कहा है कि—'मनुष्यकी तृष्णाका गड्ढा इतना गहरा हो गया है कि उसे भरनेके लिए यह समूचा विश्व भी एक अणुके समान है।' तब एक एक मनुष्यके इतने गहरे गड्ढेको कैसे भरा जाय! यह एक भयंकर समस्या है, और यह समस्या केवल वैयक्तिक नहीं अपितु राष्ट्रोंमें भी यह रोग फैल गया है। सारे छोटे और बड़े युद्ध, आक्रमण, अत्याचार और आततायिपन इसी समस्याके भयंकर परिणाम हैं।

इस संग्रहतृष्णाकी समस्याका एक मात्र हल त्याग धर्म ही है। जबसे दुनियामें संग्रहका पाप आया तभीसे त्याग धर्मकी भी उत्पत्ति हुई। अन्धकार और प्रकाश, बन्धन और मुक्ति, ज्ञान और अज्ञानकी तरह धर्म और पाप साथ साथ जन्मते हैं। संग्रहके पापके साथ अगर त्यागधर्म न आता तो दुनियाकी जो अवस्था होती उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। त्यागधर्म संग्रहके पापको धो डालता है। फिर भी हमें यह समझना है कि प्रत्येक त्याग धर्म नहीं होता। त्यागको धर्म बनानेके लिए हमें विवेककी जरूरत होती है। जिस त्यागमें अहंकार हो, लोकैषणकी भावना हो या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य कोई व्यक्तिगत स्वार्थ हो, देश-कालका विचार न हो वह त्याग धर्मकी कोटिमें नहीं आता। हमारा प्रत्येक त्याग धर्म की कोटिमें समाविष्ट हो इसके लिए हमें अपने पूरे विवेक का उपयोग करना चाहिए।

त्यागधर्म जैनाचार अथवा सदाचारकी एक बड़ी शाखा है। त्याग का अर्थ छोड़ना है। छोड़नेके भी दो रूप हैं। कोई चीज किसी को देकर भी छोड़ी जा सकती है और विना दिये भी, किसीको कोई चीज देनेके लिए जब हम छोड़ते हैं तो वह त्याग दान कहलाता है जैसे आहारदान, औषधदान आदि। किन्तु दान शब्दका प्रयोग ज्ञान और जीवनके साथ भी होता है ज्ञानदान, जीवनदान। कोई किसीको ज्ञान देता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह ज्ञान को इस तरह छोड़ देता है जैसे आहारदानके समय आहारको छोड़ दिया जाता है। ज्ञानको तो किसी भी तरह छोड़ना सम्भव नहीं है। जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक जला दिया जाता है इसी तरह एक आत्माके ज्ञान-से दूसरे आत्मामें ज्ञान उत्पन्न किया जाता है। अभय-दानमें तो अपने पाससे सचमुच कुछ भी नहीं दिया जाता। उसमें तो केवल प्राणिरक्षाका प्रयत्न ही किया जाता है। उस प्रयत्नकी सफलता ही अभयदान है।

जो चीज किसीको किसी रूपमें विना दिये छोड़ी जाती है वह भी त्यागका एक रूप है। जब मनुष्य कषाय अथवा वासनाओंका परित्याग करता है तो वह उत्कृष्ट कोटिका त्यागी कहलाता है। इस त्यागका दानके प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण बाह्य परिग्रहको छोड़कर जब कोई संसार-विरक्त होता है तब उसका वह बाह्य परि-ग्रह-त्याग किसीको देनेके लिए नहीं होता, वह तो उसे हेय समझकर छोड़ता है। इस सारे विवेचनका यह अर्थ है कि त्याग शब्दका प्रयोग दानार्थमें भी होता है और इससे भिन्न अर्थमें भी।

संग्रहसे दोष पैदा होते हैं इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि संग्रह न किया जाय; पर मनुष्यकी यह प्रवृत्ति यों ही छूटनेवाली नहीं है इसलिए विवेक-पूर्वक संग्रहके वितरणकी व्यवस्था करना मनुष्यका अनिवार्य कर्त्तव्य है इस कर्त्तव्यका जो पालन नहीं करता वह मानव-समाजमें अशान्ति उत्पन्न करनेके दोषका हिस्सेदार है। अतिसंग्रह-से जो विषमता आती है उस विषमताको आंशिक समता-के रूपमें परिवर्तित करनेके लिए दान-संस्थाका जन्म हुआ है और यह सच है कि इस संस्थाने दानार्थी और दानी सबका समान रूपसे उपकार किया है। अब तक दान धनिक समाजके लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ है। दानार्थियोंमें तब तक उत्पातकी भावना पैदा नहीं होती जब तक धनियोंके द्वारा दिये गये दानसे किसी न किसी रूपमें उनकी आवश्यकताएँ पूरी होती जाती हैं। दानी को अपने मनमें कभी यह अहंकार लानेकी जरूरत नहीं है कि मैं दान देकर दुखी, दरिद्र और गरीबोंका भला करता हूँ बल्कि उसको यह सोचना चाहिए कि इनको दान देना ही मेरी रक्षाका कवच है।

विश्व-प्रकृति स्वयं संग्रह अथवा अतिसंग्रहके विरुद्ध है। समुद्र, मेघ, वृक्ष और स्वयं पृथ्वी संग्रहके विरुद्ध क्रान्ति पैदा कर देते हैं और दानकी महत्ता को प्रकट करते हैं। दानके विषयमें एक कविने कितना अच्छा कहा है—

ऋतु वसन्त जाचक भयो, हर्ष दिये द्रुम पात।
तामें नव पल्लव भये, दियो दूर नहीं जात॥

वसन्त ऋतु आई, उसने आकर वृक्षों से कहा—मैं तुम्हारी याचक हूँ. मुझे दान दो, वृक्ष यह सुनकर बड़े खुश हुए और अपने सारे पत्ते ऋतुको दान स्वरूप दे दिये। वृक्षोंका यह दान निष्फल नहीं गया; क्योंकि तत्काल ही उन पत्तोंके स्थानमें नये पत्ते आ गए। यह सच है कि दिया हुआ कभी व्यर्थ नहीं होता।

किन्तु यह बात भी भूलनेकी नहीं है कि कोई भी मनुष्य कुछ न कुछ तो दान देनेकी क्षमता रखता ही है। एक करोड़ रुपयेका दान और एक पैसेका दान दोनों ही दानकी कोटिमें आते हैं और क्षमताकी दृष्टिसे दोनोंका बराबर महत्त्व है। यदि भावोंमें विषमता न हो तो दोनों का समानफल भी हो सकता है। जब यह बात है तब स्पष्ट है कि दानी केवल धनी ही नहीं बन सकता निर्धन भी बन सकता है। इसलिए धनियोंकी तरह निर्धन भी अपनी शक्तिको विना छिपाये और शक्तिका अतिक्रमण किये विना त्याग धर्मकी ओर अच्छी तरह प्रवृत हो सकते हैं। जब मनुष्यके मनमें ठीक अर्थमें—सहानुभूतिके भाव उत्पन्न होते हैं तब उसमें दयाकी वृत्ति जागृत होती है और तभी वह देने की प्रेरणा भी पाता है। महान् विचा-रक श्री विनोबा भावे के शब्दोंमें देनेकी प्रेरणाको ही दया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और करनेकी प्रेरणाको ही करुणा कहते हैं। अगर हृदयमें देने और करनेकी वास्तविक प्रेरणा न हो तब तो दया अथवा करुणाका पाखण्ड ही समझिये।

त्याग धर्म अथवा कोई भी धर्म केवल व्याख्याकी वस्तु नहीं है। हमें स्वतः सिद्ध तत्त्वको उतना समझानेकी जरूरत नहीं है जितनी जीवन में उतारनेकी है। सचमुच त्याग धर्म हमारे आत्माको पवित्र बनाता है। वह हमारी जीवन शुद्धिका कारण है। जो जितना त्यागी है वह उतना ही महान और वन्दनीय है। महासंग्रहशील चक्रवर्त्ती सम्राट महात्यागी तीर्थंकरकी चरणरजको पाकर अपने आपको धन्य समझता है। सचमुच जीवनकी सफलता त्यागसे ही है।

तत्वार्थ-सूत्रका महत्व

(पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य)

महत्व और उसका कारण

इसमें संदेह नहीं, कि तत्वार्थसूत्रके महत्वको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंने समानरूपसे स्वीकार किया है, यही सबब है कि दोनों सम्प्रदायोंके विद्वान आचार्योंने इस पर टीकायें लिखकर अपनेको सौभाग्यशाली माना है। सर्वसाधारणके मन पर भी तत्वार्थसूत्रके महत्वकी अमिट छाप जमी हुई है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्व र्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

इस पद्यने सर्वसाधारणकी दृष्टिमें इसका महत्व बढ़ानेमें मदद दी है। यही कारण है कि कमसे कम दिगम्बर समाजकी अपढ़ महिलायें भी दूसरोंके द्वारा सूत्र पाठ सुनकर अपनेको धन्य समझने लगती हैं। दिगम्बर समाजमें यह प्रथा प्रचलित है कि पर्यूषणपर्वके दिनोंमें तत्वार्थसूत्रकी खासतौरसे सामूहिक पूजा की जाती है और स्त्री एवं पुरुष दोनों वर्ग बड़ी भक्तिपूर्वक इसका पाठ किया या सुना करते हैं। नित्यपूजामें भी तत्वार्थसूत्रके नामसे पूजा करने वाले लोग प्रति दिन अर्घ चढ़ाया करते हैं और वर्तमानमें जबसे दिगम्बर समाजमें विद्वान दृष्टिगोचर होने लगे, तबसे पर्यूषणपर्वमें इसके अर्थका प्रवचन भी होने लगा है। अर्थप्रवचनके लिए तो विविध स्थानोंकी दि० जैन जनता पर्यूषण पर्वमें बाहरसे भी विद्वानोंको बुलानेका प्रबन्ध किया करती है। तत्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके बीच कर्ता-विषयक मतभेद पैदा हुआ जान पड़ता है।

यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि तत्वार्थसूत्रका इतना महत्व क्यों है ? मेरे विचारसे इसका सीधा एवं सही उत्तर यही है कि इस सूत्र ग्रन्थके अन्दर समूची जैनसंस्कृतिका अत्यन्त कुशलताके साथ समावेश कर दिया गया है।

संस्कृति-निर्माणका उद्देश

संस्कृति निर्माणका उद्देश्य लोक-जीवनको सुखी बनाना तो सभी संस्कृति निर्माताओंने माना है। कारण कि उद्देश्यके विना किसी भी संस्कृतिके निर्माणका कुछ भी महत्व नहीं रह जाता है परन्तु बहुत सी संस्कृतियाँ इससे भी आगे अपना कुछ उद्देश्य रखती हैं और उनका वह उद्देश्य आत्मकल्याणका लाभ माना गया है। जैनसंस्कृति ऐसी संस्कृतियोंमें से एक है। तात्पर्य यह है कि जैन संस्कृतिका निर्माण लोकजीवनको सुखी बनानेके साथ-साथ आत्मकल्याणकी प्राप्ति (मुक्ति) को ध्यानमें रखकरके ही किया जाता है।

संस्कृतियोंके आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओंके प्रकार

विश्वकी सभी संस्कृतियोंको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ माननेमें किसीको भी विवाद नहीं होना चाहिए; क्योंकि आखिर प्रत्येक संस्कृतिका उद्देश्य लोकजीवनमें सुखव्यवस्थापन तो है ही, भले ही कोई संस्कृति आत्मतत्वको स्वीकार करती हो या नहीं करती हो। जैसे चार्वाककी संस्कृतिमें आत्मतत्वको नहीं स्वीकार किया गया है फिर भी लोकजीवनको सुखी बनानेके लिए "महाजनो येन गतः स पन्था" इस वाक्यके द्वारा उसने लोकके लिये सुखकी साधनाभूत एक जीवन व्यवस्थाका निर्देश तो किया ही है। सुखका व्यवस्थापन और दुःखका विमोचन ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृतिको आध्यात्मिक माननेके लिये आधार है। यहाँ तक कि जितना भी भौतिक विकास है उसके अन्दर भी विकासकर्ताका उद्देश्य लोकजीवनको लाभ पहुँचाना ही रहता है अथवा रहना चाहिये अतः समस्त भौतिक विकास भी आध्यात्मिकताके दायरेसे पृथक् नहीं है। लेकिन ऐसी स्थितिमें आध्यात्मिकता और भौतिकताके भेदको समझनेका एक ही आधार हो सकता है कि जिस कार्यके अन्दर आत्माके लोकके लाभकी दृष्टि अपनायी जाती है वह कार्य आध्यात्मिक और जिस कार्यमें इस तरहके लाभकी दृष्टि नहीं अपनायी जाती है, या जो कार्य निरुद्दिष्ट किया जाता है वह भौतिक माना जायगा।

यद्यपि यह संभव है कि आत्मा या लोकके लाभकी दृष्टि रहते हुए भी कर्तामें ज्ञानकी कमीके कारण उसके द्वारा किया गया कार्य उन्हें अलाभकर भी हो सकता है परन्तु इस तरहसे उसकी लाभ सम्बन्धी दृष्टिमें कोई अंतर नहीं होनेके कारण उसके उस कार्यकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण बनी रहती है अतः आत्मतत्वको नहीं स्वीकार करने वाली चार्वाक जैसी संस्कृतियोंको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ मानना अयुक्त नहीं है।

यह कथन तो मैंने एक दृष्टिसे किया है, इस विषयमें दूसरी दृष्टि यह है कि कुछ लोग आध्यात्मिकता और भौतिकता इन दोनोंके अन्तरका इस तरह प्रतिपादन करते हैं कि जो संस्कृति आत्मतत्वको स्वीकार करके उसके कल्याणका मार्ग बतलाती है वह आध्यात्मिक संस्कृति है और जिस संस्कृतिमें आत्मतत्वको ही नहीं स्वीकार किया गया है वह भौतिक संस्कृति है; इस तरह आत्मतत्वको मानकर उसके कल्याणका मार्ग बतलाने वाली जितनी संस्कृतियां है वे सब आध्यात्मिक और आत्मतत्वको नहीं मानने वाली जितनी संस्कृतियाँ हैं वे सब भौतिक संस्कृतियाँ ठहरती हैं। इस विचारधारासे भी मेरा कोई मतभेद नहीं है, कारण कि यह कथन केवल दृष्टिभेदका ही सूचक है आध्यात्मिकता और भौतिकताके मूल आधारमें इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

आध्यात्मिकता और भौतिकताके अन्तरको बतलाने वाला एक तीसरा विकल्प इस प्रकार है—एक ही संस्कृतिके आध्यात्मिक और भौतिक दोनों पहलू हो सकते हैं। संस्कृतिका आध्यात्मिक पहलू वह है जो आत्मा या लोकके लाभालाभसे सम्बन्ध रखता है और भौतिक पहलू वह है जिसमें आत्मा या लोकके लाभालाभका कुछ भी ध्यान नहीं रखकर केवल वस्तुस्थिति पर ही ध्यान रखा जाता है। इस विकल्पमें जहाँ तक वस्तुस्थितिका ताल्लुक है उसमें विज्ञानका सहारा तो अपेक्षणीय है ही. परन्तु विज्ञान केवल वस्तुस्थिति पर तो प्रकाश डालता है उसका आत्मा या लोकके लाभालाभसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता है-तात्पर्य यह है कि विज्ञान केवल वस्तुके स्वरूप और विकाश पर ही नजर रखता है, भले ही उससे आत्माको या लोकको लाभ पहुँचे या हानि पहुँचे। लेकिन आत्मकल्याण या लोककल्याणकी दृष्टिसे किया गया प्रतिपादन या कार्य वास्तविक ही होगा, यह नियम नहीं है वह कदाचित् अवास्तविक भी हो सकता है, कारण कि अवास्तविक प्रतिपादन भी कदाचित् किसी किसीके लिये लाभकर भी हो सकता है। जैसे सिनेमाओंके चित्रण, उपन्यास या गल्प वगैरह अवास्तविक होते हुए भी लोगोंकी चित्तवृत्ति पर असर तो डालते ही हैं। तात्पर्य यह है कि चित्रण आदि वास्तविक न होते हुए यदि उनसे अच्छा शिक्षण प्राप्त किया जा सकता है तो फिर उनकी अवास्तविकताका कोई महत्व नहीं रह जाता है। जैन संस्कृतिके स्तुतिग्रन्थोंमें जो कहीं कहीं ईश्वरकर्तृत्वकी झलक दिखाई देती है वह इसी दृष्टिका परिणाम है जबकि विज्ञानकी कसौटी पर खरा न उतर सकनेके कारण ईश्वरकर्तृत्ववादका जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें जोरदार खण्डन मिलता है और इसी दृष्टिसे ही जैन संस्कृतिमें अज्ञानी और अल्पज्ञानी रहते हुए भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी माना गया है; जबकि वास्तविकताके नाते जीव बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानी या अल्पज्ञानी बना रहता है।

इस विकल्पके आधार पर जैन संस्कृतिको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक।

जैन संस्कृतिके उक्त प्रकारसे आध्यात्मिक और भौतिक ये दो भाग तो हैं ही परन्तु सभी संस्कृतियोंके समान इसका एक तीसरा भाग आचार या कर्त्तव्य सम्बन्धी भी हैं इस तरह समूची जैन संस्कृतिको यदि विभक्त करना चाहें तो वह उक्त तीन भागोंमें विभक्त की जा सकती है। इनमेंसे आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादक करणानुयोग, भौतिक विषयका प्रतिपादक द्रव्यानुयोग और आचार या कर्त्तव्य विषयका प्रतिपादक चरणानुयोग इस तरह तीनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भागोंका अलग अलग प्रतिपादन करनेवाले तीन अनुयोगोंमें जैन आगमको भी विभक्त कर दिया गया है।

तत्वार्थसूत्र मुख्यतः आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है, कारण कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह सब आत्मकल्याणकी दृष्टिसे ही लिखा गया है अथवा वही लिखा गया है जो आत्मकल्याणकी दृष्टिसे प्रयोजन भूत है, फिर भी यदि विभाजित करना चाहें तो कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थके पहिले, दूसरे, तीसरे, चौथे, छठे, आठवें और दशवें अध्यायोंमें मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टि ही अपनायी गयी है, इसी तरह पांचवें अध्याय में भौतिक दृष्टिका उपयोग किया गया है और सातवें तथा नवम अध्यायोंमें विशेषकर आचार या कर्तव्य सम्बन्धी उपदेश दिया गया है।

तत्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखा गया है या उसमें आध्यात्मिक विषयका ही प्रतिपादन किया गया है यह निष्कर्ष इस ग्रन्थकी लेखनपद्धतिसे जाना जा सकता है। इस ग्रन्थका 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह पहला सूत्र है, इसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रको मोक्षका मार्ग बतलाया गया है। तदनन्तर 'तत्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शनका स्वरूप बतलाते हुए 'जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्'इस सूत्रद्वारा जीव,अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूपसे उन तत्त्वार्थों की सात संख्या निर्धारित करदी गयी है और फिर द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-अध्यायोंमें जीवतत्त्वका, पञ्चम अध्यायमें अजीवतत्वका छठे और सातवें अध्यायोंमें आश्रव तत्व का, आठवें अध्यायमें बन्धतत्वका नवम अध्यायमें संवर और निर्जरा इन दोनों तत्वोंका और दशवें अध्यायमें मोक्षतत्वका इस तरह क्रमशः विवेचन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

जैन आगममें वस्तुविवेचनके प्रकार

जैन आगममें वस्तुतत्वका विवेचन हमें दो प्रकारसे देखनेको मिलता है—कहीं तो द्रव्योंके रूपमें और कहीं तत्वोंके रूपमें। वस्तु-तत्व-विवेचनके इन दो प्रकारोंका आशय यह है कि जब हम भौतिक दृष्टिसे अर्थात् सिर्फ वस्तुस्थितिके रूपमें वस्तुतत्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तुतत्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों[1] के रूपमें हमारी जानकारीमें आयगा और जब हम आध्यात्मिक दृष्टिसे अर्थात् आत्मकल्याणकी भावनासे वस्तुतत्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तु तत्व जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंके रूपमें हमारी जानकारीमें आयगा। अर्थात् जब हम 'विश्व क्या है?' इस प्रश्नका समाधान करना चाहेंगे तो उस समय हम इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छः द्रव्योंका समुदाय ही विश्व है और जब हम अपने कल्याण अर्थात् मुक्तिकी ओर अग्रसर होना चाहेंगे तो उस समय हमारे सामने ये सात प्रश्न खड़े हो जावेंगे—(१) मैं कौन हूँ?, (२) क्या मैं बद्ध हूँ?, (३) यदि बद्ध हूँ तो किससे बद्ध हूँ?, (४) किन कारणोंसे मैं उससे बद्ध हो रहा हूँ?, (५) बन्धके वे कारण कैसे दूर किये जा सकते हैं? (६) वर्तमान बन्धनको कैसे दूर किया जा सकता है? और (७) मुक्ति क्या है? और तब इन प्रश्नोंके समाधानके रूपमें जीव, जिससे जीव बंधा हुआ है ऐसा कर्म नोकर्मरूप पुद्गल, जीवका उक्त दोनों प्रकारके पुद्गलके साथ संयोगरूपबन्ध, इस बन्धके कारणीभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप आश्रव, इन मिथ्यात्व आदिकी समाप्तिरूप संवर तपश्चरणादिके द्वारा वर्तमान बन्धनको ढीला करनेरूप निर्जरा और उक्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलके साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करलेने रूप मुक्ति ये सातत्तत्व हमारे निष्कर्षमें आवेंगे।

भौतिक दृष्टिसे वस्तुतत्व द्रव्यरूपमें ग्रहीत होता है और आध्यात्मिक दृष्टिसे वह तत्वरूपमें ग्रहीत होता है। इसका कारण यह है कि भौतिक दृष्टि वस्तुके अस्तित्व, स्वरूप और भेदप्रभेदके कथनसे सम्बन्ध रखती है और आध्यात्मिक दृष्टि आत्माके पतन और उसके कारणोंका प्रतिपादन करते हुए उसके उत्थान और उत्थानके कारणोंका ही प्रतिपादन करती है। तात्पर्य यह है कि जब हम

१. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः,द्रव्याणि, जीवाश्च, कालश्च। (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र नंबर क्रमशः १, २, ३ ३९।

२. जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

(तत्वार्थसूत्रअध्याय १, सूत्र ४)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुके अस्तित्वकी ओर दृष्टि डालते हैं तो उसका वह अस्तित्व किसी न किसी आकृतिके रूपमें ही हमें देखनेको मिलता है। जैन संस्कृतिमें वस्तुकी यह आकृति ही द्रव्य-पद-वाच्य है इस तरहसे विश्वमें जितनी अलग अलग आकृतियां हैं उतने ही द्रव्य समझना चाहियें, जैन संस्कृतिके अनुसार विश्वमें अनन्तानन्त आकृतियां विद्यमान हैं अत द्रव्य भी अनन्तानन्त ही सिद्ध हो जाते हैं परन्तु इन सभी द्रव्योंको अपनी अपनी प्रकृतियों अर्थात् गुणों और परिणमनों अर्थात् पर्यायोंकी समानता और विषमताके आधार पर छह वर्गोंमें संकलित कर दिया गया है अर्थात् चेतनागुणविशिष्ट अनन्तानन्त आकृतियों-को जीवनामक वर्गमें, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट अणु और स्कन्धके भेदरूप अनन्तानन्त आकृतियोंको पुद्गल-नामक वर्गमें, वर्तना लक्षण विशिष्ट असंख्यात आकृतियोंको काल-नामक वर्गमें, जीवों और पुद्गलोंकी क्रियामें सहायक होने वाली एक आकृतिको धर्म नामक वर्गमें, उन्हीं जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक होने वाली एक आकृति को अधर्म-नामक वर्गमें तथा समस्त द्रव्योंके अवगाहनमें सहायक होने वाली एक आकृति को आकाश-नामक वर्गमें संकलित किया गया है। यही सबब है कि द्रव्योंकी संख्या जैन संस्कृतिमें छह ही निर्धारित करदी गई है।

इसी प्रकार आत्मकल्याणके लिये हमें उन्हीं बातों-की ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है जो कि इसमें प्रयोजनभूत हो सकती हैं। जैन संस्कृतिमें इसी प्रयोजन-भूत बातको ही तत्व नामसे पुकारा गया है, ये तत्व भी पूर्वोक्त प्रकारसे सात ही होते हैं।

इस कथनसे एक निष्कर्ष यह भी निकल आता है कि जो लोग आत्मतत्वके विवेचन को अध्यात्मवाद और आत्मासे भिन्न दूसरे अन्य तत्वोंके विवेचन को भौतिक-वाद मान लेते हैं उनकी यह मान्यता गलत है क्योंकि उक्त प्रकारसे, जहां पर आत्माके केवल अस्तित्व, स्वरूप या भेद प्रभेदोंका ही विवेचन किया जाता है वहां पर उसे भी भौतिकवादमें ही गर्भित करना चाहिये और जहां पर अनात्मतत्वोंका भी विवेचन आत्मकल्याणकी दृष्टिसे किया जाता है वहां पर उसे भी अध्यात्मवादकी कोटिमें ही समझना चाहिये। यह बात तो हम पहिले ही लिख आये हैं कि जैन संस्कृतिमें अध्यात्मवाद को करणानुयोग और भौतिकवादको द्रव्यानुयोग नामोंसे पुकारा गया है।

इस प्रकार समूचा तत्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे लिखा जानेके कारण आध्यात्मिक या करणानुयोगका ग्रंथ होते हुए भी उसके भिन्न भिन्न अध्याय या प्रकरण भौतिक अर्थात् द्रव्यानुयोग और चारित्रिक अर्थात् चरणा-नुयोगकी छाप अपने ऊपर लगाये हुए हैं, जैसे पांचवे अध्याय पर द्रव्यानुयोगकी और सातवें तथा नवम अध्यायों पर चरणानुयोग की छाप लगी हुई है।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपाद्य विषय

"तत्वार्थ सूत्रमें जिन महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है वे निम्नलिखित हो सकते हैं—

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा इनकी मोक्ष मार्गता, तत्वोंका स्वरूप, वे जीवादि सात ही क्यों? प्रमाण और नय तथा इनके भेद, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, जीवकी स्वाधीन और पराधीन अवस्थायें, विश्वके समस्त पदार्थोंका छह द्रव्योंमें समावेश, द्रव्योंकी संख्या छह ही क्यों? प्रत्येक द्रव्यका वैज्ञानिक स्वरूप, धर्म और अधर्म द्रव्योंकी मान्यता, धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य एक एक क्यों? तथा लोकाकाशके बराबर इनका विस्तार क्यों? आकाश द्रव्यका एकत्व और व्यापकत्व, काल द्रव्य की अणुरूपता और नानारूपता, जीवकी पराधीन और स्वाधीन अवस्थाओंके कारण, कर्म और नोकर्म, मोक्ष आदि।'

इन सब विषयों पर यदि इस लेखमें प्रकाश डाला जाय तो यह लेख एक महान ग्रन्थका आकार धारण कर लेगा और तब वह ग्रन्थ तत्वार्थसूत्रके महत्त्वका प्रतिपादक न होकर जैन संस्कृतिके ही महत्त्वका प्रतिपादक हो जायगा, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रमें निर्दिष्ट उक्त विषयों तथा साधारण दूसरे विषयों पर इस लेखमें प्रकाश नहीं डालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस सूत्र ग्रन्थमें सम्पूर्ण जैन संस्कृतिको सूत्रोंके रूपमें बहुत ही व्यवस्थित ढंगसे गूंथ दिया गया है। सूत्र ग्रन्थ लिखनेका काम बड़ा ही कठिन है, क्योंकि उसमें एक तो संक्षेपसे सभी विषयोंका व्यवस्थित ढंगसे समावेश हो जाना चाहिए. दूसरे उसमें पुनरुक्तिका छोटेसे छोटा दोष नहीं होना चाहिये। ग्रन्थकार तत्वार्थसूत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को इसी ढंगसे लिखनेमें सफल हुए है, यह बात निर्विवाद कही जा सकती है।

उपसंहार

बड़े बड़े विद्वानोंके सामने विश्व स्वयं एक पहेली बन कर खड़ा हुआ है। संसारकी दुःखपूर्ण अजीब अजीब घटनाओंसे उद्विग्न आत्मोन्निीषु लोगोंके सामने आत्मकल्याणकी भी एक समस्या है। इसके अतिरिक्त मानवमात्रकी जीवन-समस्या तो, जिसका हल होना पहले और अत्यन्त आवश्यक है, बड़ा विकराल रूप धारण किये हुए है। इन सब समस्याओंको सुलझानेमें जैन संस्कृति पूर्णरूपसे सक्षम है। तत्वार्थसूत्र-जैसे महान ग्रन्थोंका योग सौभाग्यसे हमें मिला हुआ है और इन ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी हम लोग सतत किया करते हैं; परन्तु हमारी ज्ञानवृद्धि और हमारा जीवनविकास नहीं हो रहा है यह बात हमारे लिये गम्भीरता-पूर्वक सोचनेकी है। यदि हमारे विद्वानोंका ध्यान इस ओर जावे तो इन सब समस्याओंका हल हो जाना असम्भव बात नहीं है

संयम धर्म

(श्री राजकृष्ण जैन)

दश धर्मोंमें संयमका छठा स्थान है। इसलिए जब मनुष्य उत्तमक्षमा, मादव, आर्जव, शौच और सत्य गुणों से विभूषित होता है, तब वह ठीक अर्थमें संयम ग्रहण करनेका पात्र होता है। सं-सम्यक् प्रकारसे यम (जीवन पर्यंत चारित्र) ग्रहण करनेको संयम कहते हैं। इससे कोरे द्रव्य-चारित्रका निराकरण हो जाता है।

पूज्यपादाचार्यने 'समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणेन्द्रिय परिहारः' यह संयमका लक्षण बतलाया है। यही बात पद्मनन्दि आचार्यके निम्न श्लोकसे विदित है:—

जन्तु-कृपार्दित-मनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः ॥

इसमें पूर्ण हिंसाका त्याग है, क्योंकि पूर्ण दयालुता वीतराग दशामें ७ वें अप्रमत्त गुणस्थानमें ही होती है। किन्तु जब सम्पूर्ण वीतरागता न हो तब रागकी वृत्तिके लिए पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतना संयम है। यह दो प्रकारका है प्राणसंयम और इन्द्रिय संयम। साधु (मुनि) दोनों प्रकारके संयमको पूर्ण पालता है, वह अपने आचरणमें प्रयत्न करता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय जैसे स्थावर जीवोंकी भी रक्षा हो। गृहस्थ, प्राण संयममें, त्रस जीवोंके विघातको त्यागता है और स्थावर जीवोंकी भी यथासाध्य रक्षा करता है। गृहस्थके लिये देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान ये छः आवश्यक बतलाये है, इनमें संयमको इसलिए गर्भित किया गया है कि संयम अर्थात् इन्द्रियनिग्रहके बिना उसका जीवन व्यवस्थित या Controlled life नहीं होती। यहींसे वह अपने सम्यक् श्रद्धा और ज्ञानको आचरणके रूपमें उपयोग करता है और यहींसे वह दशा प्रारम्भ होती है जो संसारकी निवृत्ति अर्थात् मोक्षके लिए आवश्यक है।

तत्वार्थसूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपणं' यह हिंसाका लक्षण बतलाया है। जब मनुष्य पांच इन्द्रिय, चार कषाय चार विकथा, राग-द्वेष और निद्रा, १५ प्रकारके प्रमाद इन पर नियंत्रण करके प्रवृत्ति करता है, तब वह हिंसाका त्यागी होता है। प्रमादकी उपस्थितिमें सर्वप्रथम भावहिंसाके द्वारा अपने आत्मपरिणामोंका घात करता है और अपने समत्व (Equilibrium) को खो बैठता है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि अन्य प्राणी मरें या जीवें, वह हिंसक कहलायेगा। पुरुषार्थसिद्धयुपायके निम्न दो श्लोक इस विषयमें बड़े महत्वके हैं:—

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।
म्रियतां जीवो मारवा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥
यस्मात्कषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।
पश्चात्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणांतु ॥

हिंसक और अहिंसककी व्याख्या निम्न उदाहरणसे स्पष्ट हो जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि मारने-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की भावनासे दिया गया विष भी किसी मनुष्यको अमृतका काम करता है और डाक्टर किसी मनुष्यकी जान बचानेके लिये आपरेशन करता है और मनुष्य मर जाता है। चाहे मृत्यु हो या न हो मारनेकी भावनासे विष देने वाला हिंसक है और आपरेशन करनेवाला डाक्टर अहिंसक। मन, त्वचा, जिह्वा नासिका, नेत्र और कान इन पर कंट्रोल करना यही इन्द्रिय-संयम है। कौन नहीं जानता कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए सुख सुखाभास है, विनाशक है और कर्मोंके आधीन है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय कामांध हाथीको फंसा देता है, जिह्वा इन्द्रियके कारण मछली कांटे में फंसकर अपने प्राण गँवा देती है। नासिका इन्द्रियके कारण कमलके परागमें उसकी सुगन्ध सूँघता सूँघता भंवरा अपनी जान देता है। नेत्र इन्द्रियके वशीभूत होकर पतंग दीपक या बिजलीकी लौमें स्वाहा हो जाता है। कर्णेन्द्रिय के वशीभूत चपल मृग भी राग सुननेके कारण शिकारीके द्वारा दारुण कष्टको भोगता है। जब एक एक इन्द्रियके विषयके कारण जीव नानाप्रकारके दुःखोंको भोगता है तो मनुष्य पांचों इन्द्रियके विषयमें फंसकर क्या क्या कष्ट सहन नहीं करता ? इन्द्रियोंकी इस अनर्गल प्रवृत्तिको रोकना ही संयम है। गृहस्थके लिए भी यथासाध्य समितियोंका पालन नित्यके व्यवहारके लिए आवश्यक है। गमनकी शुद्धता ईर्या समिति है, वचनकी शुद्धता भाषासमिति है, भोजनकी शुद्धता एषणासमिति है, देखकर उठाने और धरनेकी शुद्धता आदान-निक्षेपणासमिति है, स्वच्छ निर्जन्तु स्थान पर मलमूत्र विसर्जन करना प्रतिष्ठापनासमिति है।

संयमकी महत्ता पर श्रीपद्मनन्दिआचार्यका निम्न श्लोक महत्वपूर्ण है—

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयः,
तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनाञ्जसे,
स्वर्मोक्षैकफलप्रदः स च कथं न श्लाघ्यते संयमः॥

इसमें बतलाया है कि संसाररूपी गहन बनमें भ्रमण करते हुए जीवको मनुष्यजन्म महादुर्लभ है। मनुष्य पर्यायमें भी उत्तम जातिका मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति भी मिले तो भगवानके वचन सुननेका सुयोग दुर्लभ है। यदि भगवद्-वचन भी सुना तो उन वचनोंमें श्रद्धा लाना और ज्ञानसे उसका निर्णय करना कठिन है। यदि ये सब बातें हों तो भी संयमके बिना न स्वर्ग मिल सकता है और न मोक्ष। यह जानकर मनुष्यको यथाशक्ति संयम अवश्य धारण करना चाहिए।

आकिंचन्य धर्म

(परमानन्द शास्त्री)

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित्।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिंचन्यमुच्यते॥

संसारमें ऐहिक पदार्थोंमें और अपने शरीरादिकमें भी ममताका अभाव होना आकिंचन्य है। अकिंचन्यका अर्थ होता है नग्नता। केवल बाह्य नग्नता आकिंचन्य नहीं है, किन्तु अंतर्बाह्य परिग्रहसे ममत्वका अभाव होना आकिंचन्य है, लोकमें जिसके पास कुछ भी नहीं है, जिसका तन नंगा है और मन भी नंगा है, जिसे अपने शरीरका भी लेशमात्र मोह नहीं है, वही वास्तवमें अकिंचन है। केवल निर्धन होना अकिंचन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धनाभाव, धनागमकी आकांक्षारूप भावनासे ओत प्रोत है, यदि उसमें से धनकी ममताका सर्वथा अभाव हो जाता है तब उसे भी आकिंचन्य धर्मका धारी माना जा सकता है अन्यथा नहीं। आकिंचन्य धर्मका धारी धनी, निर्धनी, दुखी, सुखी आदि सभी व्यक्तियों पर समानभाव रहता है। वह लोकमें किसीको भी दुःखी नहीं देखना चाहता।

आज लोकमें परिग्रहकी आसक्ति, अर्थसंचयकी लोलुपता और विविधि भोगोंके भोगनेकी लालसाने मानव-जीवनके नैतिक स्तरको भी नीचे गिरा दिया है। परिग्रहकी अनन्ततृष्णा मानवताके रहस्यको खोखला कर रही है। लोग परिग्रहको ही आज सब कुछ अपना माने बैठे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। उसीकी भीड़में अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। उसके संचयसे ही अपनी मान प्रतिष्ठाको ऊँचा उठा हुआ समझ रहे हैं। जो जितना अधिक परिग्रही है वह लोकमें उतना ही अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है और पैसेके कारण लोग उसकी इज्जत करते हैं। मानो धनागम उसकी मानप्रतिष्ठाका आज केन्द्रसा बना हुआ है।

जो निर्धन है, गरीब है, बेचारा खानेके लिये मुंहताज रहता है, तन ढकनेको भी जिसके पास वस्त्र नहीं है, भरपेट अन्नका भी प्रबन्ध नहीं है, मांगकर उदरपूर्ति करना जिसे संतापका कारण है, जो मांगकर खानेसे भूखों मर जाना कहीं अच्छा समझ रहा है, ऐसे व्यक्तिका लोकमें कोई आदर नहीं है। जिसे संसारका वैभव दुःखद प्रतीत होता है, जो घास फूसकी एक छोटीसी झोपड़ीमें सुखपूर्वक रह रहा है, पर दरिद्रता उसके लिये अभिशाप बन रही है जो अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगता हुआ भी कभी दिलगीर नहीं होता, मानवताका उभार जिसके रोम रोममें भिद रहा है, जो अपनेसे भी असहाय एवं दुःखी प्राणियोंके दुःखमें सहानुभूति रखता है, उन्हें सान्त्वना और बल प्रदान करता है-भले ही वह निर्धन हो, बड़े बड़े महलोंमें न रहकर फूसकी झोपड़ीमें रहता हो, तो भी लोकमें बड़ा होनेके योग्य है। क्योंकि उसकी आत्मा निर्मल है, विचारोंमें उच्चता है, वह कर्तव्य पथ पर आरूढ़ है, इसीसे वास्तवमें वह मानव है।

इस आकिंचन्य धर्मके दो अधिकारी होते हैं, एक परिग्रहकी भीड़में रहने वाला विवेकी गृहस्थ, और दूसरा आत्मसाधना करने वाला तपस्वी साधु।

जो गृहस्थ सांसारिक कार्योंमें लग रहा है, न्याय और नीतिसे धनार्जन करता हुआ मानवताके नैतिक स्तरसे नहीं गिरा है, जो सदा इस बातका ध्यान रखता है कि मैं मानव हूँ और दूसरे भी लोकमें मानव हैं वे भी मेरे ही समान हैं, मुझे उनके प्रति घृणा अथवा तिरस्कारकी दृष्टि रखना अयुक्त है। हाँ, यदि उनमें कुछ कमी है अथवा पुरुषार्थकी कमजोरी है, तो वे उसे दूर करनेका यत्न करें। परन्तु धनादिकके मदमें अपनेको न भुलावें, विवेकसे काम लें। विवेक ही मानव जीवनको ऊँचा उठाने वाला है, साहस और धैर्य उसके सहायक हैं। वह सद्दृष्टि है-वस्तुतत्वमें अडोल श्रद्धा रखता है, हृदयमें कोमलता और सरलता है, वही सच्चा मानव है जो परिग्रह संचयमें लालसा नहीं रखता, और न यद्वा तद्वा प्रवृत्तिसे उसे बढ़ाना ही चाहता है। जिसे भोगोंकी अनुलब्धिमें चिन्ता नहीं होती, और न दूसरेकी वृद्धिमें डाह ही होती है। जिसकी परमें आत्मकल्पनाका अभाव है वह सदा संतोषी और अपने दयालु स्वभावसे अहंकारकी उस चट्टानसे कभी नहीं टकराता जो मानव जीवनके पतनमें कारण है। जिसकी धनादि वैभवमें ममता नहीं उसे अपना नहीं मानता, किन्तु कर्मोदयका फल समझकर उसमें हर्ष और विषाद नहीं करता, साता परिणतिमें सुखी और असातामें दुःखी अथवा दिलगीर नहीं होता किन्तु विवेकी और माध्यस्थ भावनामें तत्पर रहता है। वह आकिंचन्य धर्मका एक देश अधिकारी है।

जो साधु है आत्म-साधनाके दुर्गम मार्गमें विचरण कर रहा है, जिसने साधुवृत्ति अंगीकार करनेसे पहले ही संसारके वैभवसे होने वाली विषमताका मनन किया है और अपने विवेक बलसे उसमें होने वाली आंतरिक ममता अथवा मोहका सर्वथा त्याग किया है। जिसने भोगोंको निस्सार समझ कर छोड़ा है और अपने स्वरूपमें निष्ठ होनेका प्रयत्न किया है। जो बाहर भीतर एक सा नग्न है, जिसके पास संयम और ज्ञानार्जनके उपकरणके सिवाय कोई अन्य परमाणुमात्र भी पदार्थ नहीं है, जो परमाणुमात्रको भी अपना नहीं मानता वह वास्तवमें साधु है और आकिंचन्य धर्मका सर्वथा अधिकारी है।

क्योंकि पर पदार्थकी आकांक्षा ही राग है, परिग्रह है। जहाँ पदार्थका संग्रह नहीं है और न लाखों करोड़ोंकी सम्पदा ही है किन्तु एक ममता है, उनमें अपनेपनकी भावना है, वहाँ आकिंचन्यधर्मका अभाव है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पर पदार्थ चाहे रहे या न रहे उसमें ममता अथवा रागका अभाव हुए विना आकिंचन्यका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें निस्पृहता जो नहीं है। अतएव जो साधु रत्नत्रयका साधन करता है, देह भोगोंसे सर्वथा निस्पृह है, संयम और ज्ञानके उपकरण पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादिमें भी ममता नहीं है-जो आत्म स्वातन्त्र्यका अभिलाषी है—कर्मबन्धनके छुड़ानेमें उत्सुक है, वास्तवमें वही आकिंचन्य धर्मका स्वामी है।

उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रहचिंता दुखही मानो
फाँस तनिकसी तनमें सालै, चाह लंगोटीकी दुख भाल।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकिंचन्य आत्माका धर्म है, गुण है, उसकी सबसे बड़ी महत्ता दुःखका अभाव है। दुःखसे छूटनेके लिये हमें उस आकिंचन्य धर्मकी शरणमें जाना पड़ता है। विना उसकी शरण लिये वास्तविक सुख मिलना नितान्त कठिन है क्योंकि जिस तरह शरीरमें जरासी फांस लग जाती है तो वह बड़ा दुःख देती है, मनुष्य उससे बेचैन हो जाता है। उसी तरह धन, सम्पदा, महल, और विविध भोगोंके संग्रहकी बात जाने दीजिये यदि एक लंगोटीकी चाह है, जब तक वह नहीं मिल जाती है तब तक तद्विषयक आकुलता बनी ही रहती है। उसकी चाहमें वह मानव अनन्त दुःखोंका पात्र होता है। तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो लंगोटी कोई महत्वपूर्ण पदार्थ नहीं है और न वह किसीको दुख ही करती है। वह सुखःदुखकी जनक भी नहीं है। किन्तु उस लंगोटीमें जो ममता है, राग है, वह राग ही जीवको बेचैन कर रहा है दुखी और संसारी बनाये हुए है। अतः उससे छूटनेके लिये उस लंगोटीसे भी मोह छोड़ना पड़ता है, बिना लंगोटीसे मोह छोड़े वास्तविक नग्नता नहीं आ सकती। लंगोटी छोड़ कर साधु बन जाने पर भी यदि उससे ममता नहीं छूटती है तो वह नग्नता भी अर्थसाधक नहीं हो सकती। अतः लंगोटीसे भी ममता छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है और समतारससे सराबोर उस मुनिमुद्राको धारण करना आवश्यक है जिसमें आशा, तृष्णाको कोई स्थान ही नहीं है। किसी कविने ठीक कहा है—

भालै न समता-सुख कभी नर, विना मुनिमुद्रा धरे।
धन नगन पर तन नगन ठाड़े, सुर असुर पायनि परे॥

अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम वस्तुतत्त्वका यथार्थ स्वरूप समझनेका प्रयत्न करें और अपने आत्मकर्त्तव्यको न भूलें, सजग और विवेकी बने रहें, घरमें रहते हुए घरके कामसे उन्मुक्त रहनेका यत्न करें, सांसारिक भोगोंकी अभिलाषाको कम करें। और इस लालसाका भी परित्याग करें कि बहुत धन संचय करके हम उसे परोपकारमें लगा देंगे। ऐसा करनेसे आत्मा अपने कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है और उससे वह अपने तथा परके उपकारसे भी वंचित रह जाता है। क्योंकि लोभसे लोभकी वृद्धि होती है। अन्ततोगत्वा आत्मा अपार तृष्णाकी कीचड़में फँस जाता है। दूसरे, धनसंचयसे अपना और दूसरेका उपकार हो ही नहीं सकता। उपकार अपकार तो अपनी भावना और कर्त्तव्यसे हो सकता है। अतः पहले सद्दृष्टि बन कर एक देश आकिंचन्य धर्मका अधिकारी बनना चाहिये। और घरमें रहते हुए तृष्णाको घटाने तथा देह-भोगोंसे अरुचि बढ़ानेका यत्न करना ही श्रेयस्कर है।

ब्रह्मचर्य पर श्रीकानजी स्वामीके कुछ विचार

"ब्रह्मका अर्थ है आत्माका स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और परके संगसे रहित आत्मस्वभाव कैसा है—वह जाने बिना उत्तम ब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिक ब्रह्मचर्य शुभ राग है, धर्म नहीं है और उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है राग नहीं है। शुद्धआत्मस्वभावकी रुचिके बिना विषयोंकी रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा मेरे ही स्वभावमेंसे प्रगट होती हैं, उसके प्रगट होनेमें मुझे किसीकी अपेक्षा नहीं है—ऐसी परसे भिन्न स्वभावकी दृष्टि हुए बिना विषयोंकी रुचि नहीं छूटती। बाह्यमें विषयोंका त्याग करदे, किन्तु अंतरंगसे विषयोंकी रुचि दूर न करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। स्त्री, घरबार छोड़ कर त्यागी हो जाये, अशुभ भाव छोड़ कर शुभ करे, किन्तु उस शुभ भावमें जिसे रुचि एवं धर्मबुद्धि है उसके वास्तवमें विषयोंकी रुचि दूर नहीं हुई। शुभ अथवा अशुभ विकार परिणामों में एकता बुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है, और विकार-रहित शुद्धआत्मामें परिणामकी एकता ही ब्रह्म परिणति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्य धर्म है।"

"आत्म स्वभावकी प्रतीतिके बिना स्त्रीको छोड़ कर यदि ब्रह्मचर्य पाले तो वह पुण्यका कारण है, किन्तु, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, और उससे कल्याण नहीं होता। बिषयोंमें सुखबुद्धि अथवा निमित्तकी अपेक्षाका उत्साह संसारका कारण है। यहाँ पर जिस प्रकार पुरुषके लिए स्त्रीको संसारका कारण रूप कहा है, उसी प्रकार स्त्रियोंको भी पुरुषकी रुचि सो संसारका कारण है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा, चेतना या जीवन

(ले० अनन्तप्रसादजी B. Sc. Eng. 'लोकपाल')

(गत ५१ पृष्ठसे आगे)

कुछ पश्चिमीय विद्वान यह मानते हैं कि मानव या जीवधारियोंकी चेतना और जीवनीका आधार 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नहीं है, ये तो यों ही स्वाभाविक रूपसे जन्म लेते और मर जाते हैं। मरने पर कुछ नहीं रहता सब कुछ खतम हो जाता है। जैसा प्राचीनकालमें चार्वाक-ने भी कहा था। कुछ लोग कुछ खास तौरका Spirit मानते हैं। कुछ ईश्वरकी सृष्टिमें विश्वास करते हैं कि ईश्वर ऐसा बनाता बिगाड़ता है इत्यादि। इस विषय पर बड़े प्राचीनकालसे वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन होते चले आ रहे हैं जो हर धर्मोंके शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं, मुझे उनको यहाँ दुहराना नहीं है।

चेतनामय वस्तुओं (जीवधारियों) का जन्म एक खास प्रकारसे ही होता है। प्रायः नर-मादाके संयोगसे बीज होकर जन्म होता है और जिसका बीज होता है उसी रूपाकारमें उस बीजसे जन्म लेने वालेका रूपा-कार होता है। कुछ समय तक जीवन रहनेके बाद जीवन जब लुप्त हो जाता है तब केवल बाह्य शरीर मात्र ज्यों का त्यों रह जाता है। यह बात सभी जीवधारियोंके साथ है चाहे वे मानव हों, पशु पक्षी हों, मगरमच्छ हों, कीट पतंगे हों या पेड़ पौधे हों। ऐसी बात निर्जीव वस्तुओंमें नहीं पाई जाती। इससे भी सिद्ध होता है कि निर्जीव वस्तुओंकी तुलनामें और सजीवोंमें कोई खास 'विशेषता' है।

कुछ पश्चिमीय विद्वानोंने कहा है कि सजीवता या सचेतनता केवल मस्तिष्कके कारण है। पर ऐसे भी जीव हैं जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। जैसे—मिट्टीके बर्साती कीड़े (केंचुआ Earth worms) फिर भी उनमें जीवन होता है और थोड़ी चेतना भी होती है। चेतनाका प्रधान लक्षण पीड़ाका अनुभव कहा जा सकता है। जब इन बर्साती रेंगने वाले लम्बे पतले कीड़ों-केंचुओंको किसी चीजसे खोदा या बेधा जाता है तो उन्हें पीड़ा होती है जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

सांसारिक दृष्टिसे जैन दर्शनकी सबसे बड़ी कमजोरी वहाँ होती है जहाँ वह आत्माकी कोई रूपरेखा निर्धारित न करके अरूपी और पुद्गल-रहित (Matterless) बतलाता है। बौद्धोंने इसीलिये 'शून्य' कह दिया है। ऐसी बातों या विचारोंकी धारणा बनाना मनुष्यके लिए कठिन हो जाता है—और यहीं से शङ्का, विरोध, अमान्यता वगैरह उत्पन्न होती और बढ़ती हैं। पर सचमुच तर्क-द्वारा आत्माका गुणके अनुरूप कोई पुद्गल रूपी शरीर सम्भव ही नहीं होता। कुछ लोगोंने आत्माके रूप और आकारको निर्धारित करनेकी चेष्टा की है पर तर्कसे उनका पूर्णरूपेण खण्डन हो जाता है। माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न 'बीज' तो बड़ा छोटा या सूक्ष्म होता है, वही बढ़ते बढ़ते मानवाकृति हो जाता है। आत्मा आरम्भसे ही बीजमें रहता है। वीर्य और रजका संयोग होकर जो 'बीजाणु' (Spermetazoon) बनता है उसीमें आत्मा या जीवका संचार होता है। जीवका संचार होनेके बाद ही उस 'बीजाणु' की वृद्धि होना आरम्भ होती है अन्यथा जो 'बीजाणु' सजीव नहीं हो पाते वे नष्ट हो जाते हैं। सजीव 'बीजाणु' भी मृत्युको प्राप्त होते हैं पर दोनोंमें भेद है। जैन दर्शनने आत्माको आकाशके समान अरूपी मानते हुए उसे उसी आकारका होना स्वीकार किया है जिस आकारके शरीरमें वह हो। शरीरकी वृद्धिके साथ उस आकार या फैलावको भी वृद्धि स्वयं होती जाती है। केंचुवेके मस्तिष्क नहीं होता पर यदि उसके शरीरके किसी भागमें भी छेदन भेदन हो तो उसका सारा का-सारा शरीर पीड़ासे ऐंठने लगता है स्पर्श-चेतना उसके सारे शरीरमें है। आत्मा यदि एक जगह रहता तो यह चेतना सारे शरीरमें नहीं होती। आत्मा सारे शरीरमें व्यापक है और चेतना भी सारे शरीरमें है, किसी एक जगह सीमित नहीं। इस विषयकी जैन शास्त्रोंमें विशद विवेचनात्मक समीक्षाएँ मिलेंगी।

आत्मा सांसारिक अवस्था में पुद्गल matter) या जड़वस्तु के साथ ही संयुक्त रूपसे पाया जाता है और तब तक उसका साथ रहता है जब तक आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके पुद्गल या जड शरीरसे एकदम छुटकारा या मुक्ति (मोक्ष) न पा जाय। एक बार परमविशुद्ध रूप प्राप्त कर लेने पर आत्मा का सम्बन्ध या साथ पुनः जडके साथ नहीं हो सकता। अज्ञान जड़ताके कारण है और जड़का संयोग अज्ञानके कारण है। ज्ञानकी वृद्धि पुद्गलके बन्धन या चापको ढीला बनाती है। ज्ञानकी कमी या अज्ञानकी वृद्धि जडताको दृढ़ करती है या पुद्गलके संयोगको अधिक सुदृढ बनाती है। ज्ञान आत्माका अपना गुण है। जब आत्मा पूर्णपने अपने गुण को विकसित कर लेता है तो उसका सम्बन्ध पुद्गलसे अपने आप छूट जाता है। पर जब तक यह पूर्णता नहीं होती आत्मा तो किसी न किसी शरीरके साथ ही रह सकता है—तब तक बगैर शरीरके अकेला हो ही नहीं सकता। मन और बुद्धि-युक्त मानव शरीरके द्वारा ही आत्माका पूर्ण ज्ञान विकसित हो सकता है, अन्यथा तो यह सम्भव ही नहीं है। इसीलिए मानव जन्मकी इतनी बड़ी महत्ता मानी गई है। इस शरीरके भी कई भाग हैं जिनमें कार्माण शरीर और तैजस शरीर जो सर्वदा आत्मा के साथ रहते हैं और हाड़मांसमय दृश्य औदारिक शरीर मृत्युके बाद यहीं रह जाता है, जबकि कार्माण और तैजस शरीर मृत्युके बाद आत्माके साथ साथ दूसरे शरीरोंमें आत्माको ले जाते हैं। यह कर्माण शरीर ही किसी भी जीवधारीके जन्म, जीवन और मरणका आधार या कारण है। दश प्राणों के द्वारा यह शरीरमें स्थिर रहता है। जब इन प्राणोंका घात या क्षय होता है तो कर्माण शरीर आत्मा के साथ निकल जाता है, जिसे मृत्यु कहा जाता है।

बाहरी शरीरमें भी और कार्माण शरीरमें भी सर्वदा परिवर्तन हुआ करता है। यह परिवर्तन ही जीवनको चालू रखता है या यों भी कह सकते हैं कि जीवन जब तक रहता है परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन होते रहना ही जीवन है। जबतक बाहरी शरीर और कार्माण शरीरों का परिवर्तन सह-समान एक दूसरेके अनुकूल और साथ साथ होता है जीवन रहता है। जब दोनोंमें भेद होता है तो बीमारी और मृत्यु हो जाती है। हमारे कर्मों और भावनाओंके अनुसार ही हमारे कार्माण शरीरमें तबदीलियाँ होती रहती हैं। कर्माण शरीर ही हमारे कर्मोंको कराने और भाग्यको निश्चित करने वाला है। हम पाते हैं कि हर पशु पक्षी, कीड़ा मकोड़ा जन्म होनेके बाद ही अपनी जातिकी विशेषताके अनुसार बिना सिखलाए अपने आप अपने कर्म करने लगता है। यह बात केवल कार्माण शरीरकी अवस्थिति-द्वारा ही सम्भव है। इस विषयकी विशद व्याख्या जैन शास्त्रोंमें मिलेगी। जीवधारियोंके अपने आप अपना कर्म करनेकी विचित्रताको समझानेके लिए औरोंने भी अपने सुझाव दिए हैं—पर वे जरा भी सन्तोषजनक नहीं। आत्मासे युक्त कार्माण शरीर—जैसा जैन शास्त्रोंमें प्रतिपादित है वैसा ही स्वीकार करनेसे इस समस्याका समाधान ठीक ठीक होता है।

इस विषयमें मैं एक लेख अनेकान्तके गत अंकमें "कर्मोंका रसायनिक सम्मिश्रण" शीर्षकसे, लिख चुका हूँ। मेरे "जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य" तथा "शरीरका रूप और कर्म" नामक दो लेखोंमें भी इन विषयों पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है—उन्हें पढ़नेसे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और काफी जानकारी प्राप्त हो सकती है।

आत्माकी चेतना रहनेके ही कारण जीवनी शक्ति भी रहती है और जीवनी शक्ति द्वारा शरीरके आधारसे ही कर्म होते हैं और फलस्वरूप दुख सुख इत्यादि भी चेतना द्वारा ही अनुभूत किये जाते हैं इसीलिए आत्माको कर्ता और भोक्ता भी कहा गया है। शरीर को तो कर्मोंका आधार माना है। अनुभूति या अनुभव करने वाला तो आत्मा है। मन मस्तिष्क और हृदय इत्यादि भी शरीरके ही भाग हैं और पुद्गलकृत (Made of Matter) हैं तथा अनुभूतियों को अधिक साफ और उनका विधिवत् ब्योरेवार विशेष ज्ञान करानेमें सहायक कारण है। ये मस्तिष्क वगैरह भी आत्मा या आत्माकी चेतनाकी मौजूदगीमें ही कार्यशील रहते हैं—अन्यथा नहीं। बीजाणु (Spermetazoon) में पहले जीव (आत्मा) का आगमन होता है फिर धीरे २ शरीर, मस्तिष्क. मन इत्यादिका निर्माण होता है। इससे यह निश्चित है कि जीवधारीकी चेतना या ज्ञानके मूल कारण या स्रोत मस्तिष्क, मन इत्यादि नहीं हैं—ये केवल आधार या सहायक मात्र हैं। बहुतसे जीवोंको मन और मस्तिष्क इत्यादि होते ही नहीं, फिर भी उनमें जीवन और चेतना रहती है। जीवन और चेतना आत्माके ही लक्षण हैं और हो सकते हैं।

आत्माका होना केवल तर्क-द्वारा ही सिद्ध होता है, क्योंकि इसे हम देख नहीं सकते न इन्द्रियों द्वारा अनुभव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही कर सकते हैं। आत्माको केवल आत्मा-द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है। प्रारम्भमें मनकी एकाग्रता इसमें सहायक होती है। मनको आत्माके शुद्ध निर्मल स्वरूपके ध्यानमें लगानेसे साधना और ध्यानकी शुद्धताके अनुसार धीरे धीरे ध्यान स्वयं अधिकाधिक गंभीर और शुद्ध होता जाता है। शास्त्रोंके मननसे ज्ञानकी वृद्धि और शुद्धि होती है। इन दोनोंकी मददसे स्वयं तर्क और बुद्धिका उपयोग करके आत्माके शरीरस्थित स्वरूपकी धारणा और उसके गुणोंका विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। यही ज्ञान और धारणा सुदृढ हो जाने पर ध्यानकी गहराई स्वयं आत्माको आत्मामें लीन करने लगती है और तब कभी न कभी स्वयं आत्मप्रकाश उदय हो जाता है। यही वह अवस्था है जहाँ पूर्णज्ञानकी उपलब्धि होकर आत्मा निराबाध, निर्विकल्प निर्द्वन्द, निर्बन्ध हो जाता है और तब पुद्गलसे छूटकर अपनी परमशुद्ध पूर्णज्ञानमय अवस्थामें स्थिर हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष ज्ञानकी वृद्धि द्वारा ही संभव है। ज्ञान भी शुद्ध, ठीक, सही ज्ञान होना चाहिए। गलत ज्ञानकी वृद्धिसे मोक्ष नहीं हो सकता है उलटा जड़-पुद्गल (Matter) का सम्बन्ध या बन्धन और अधिक कड़ा होगा। आत्माको पुद्गलसे सर्वथा भिन्न समझना और ज्ञान चेतनामय शुद्ध देखना ही सच्चा ज्ञान है। आत्माके गुण अलग हैं और पुद्गलके गुण अलग। दोनोंका जब तक संयोग रहता है दोनोंके गुणोंके सम्मिलनके फलस्वरूप हम जीवधारियोंमें विभिन्न गुणोंको पाते हैं। शरीरका हलन चलन पुद्गलका गुण है और चेतना आत्माके कारण है। चेतना ही चेतनाके विकाशका कारण, आधार और जरिया है। जड तो चेतनाको कम ही करने वाला है। जितना जितना चेतना (ज्ञान) का विकाश होता जाता है उसे ही सांसारिक भाषामें आत्मविकाश कहते हैं, आत्मविकाशके लिये अच्छा स्वस्थ शरीर उपयुक्त वातावरणमें जन्म, समुचित परिस्थितियोंका होना और आवश्यक शिक्षा संस्कृति जरूरी है। ध्यानके लिए भी इनकी जरूरत है। ज्ञान शुद्ध होने से ही ध्येय भी शुद्ध हो सकता है। ध्येय जब तक शुद्ध न हो तो ध्यान भी बेकार ही है।

साधारण गृहस्थ मानव भी शुद्ध आत्माका ध्यान करके अपने गुणों और क्षमताओंको बढ़ा सकता है। ध्यान की एकाग्रता जिस विषयकी भी हो उस विषयमें क्षमताको बढ़ाती है। यदि ध्यानका विषय शुद्ध आत्मा ही स्वयं हो तब तो पूछना ही क्या। ध्यानके तरीकोंका और अभ्यास बढ़ानेके ढंगोंका विशद-वर्णन जैन शास्त्रोंसे प्राप्त होगा। जैसा हम ध्यान करेंगे वैसा ही हम हो जायंगे—यह बिलकुल सही बात है। तीर्थंकर भगवानकी शुद्ध ध्यानस्थ-मूर्तिका दर्शन और ध्यान करनेसे हमारे अन्दर भी वैसी ही भावनाएं उत्पन्न और सुदृढ होती हैं। भयंकर मूर्तियोंके या रूपोंके दर्शन और ध्यानसे हमारी भावनाएं भी तदनुरूप ही हो जाती हैं *। शुद्ध, प्रकाशमय आत्माका ध्यान हमें उत्तरोत्तर उन्नत और शुद्ध बनाता है। आत्माकी ऊर्ध्व गति इसी प्रकार संभव है।

संसारमें भी हम पाते हैं कि जो आत्मामें विश्वास करते हैं वे अधिक गंभीर और आचरणके पक्के होते हैं। जो आत्मामें विश्वास नहीं करते वे जल्दी ही विभिन्न व्यसनोंके शिकार होकर अन्तमें अपना सब कुछ गंवा कर निराश और दुःखी ही होते हैं। जब कि आत्मामें विश्वास करने वाला दुखमें भी धीर गंभीर रहता है और उसका दुख भी सुखमें परिणत होजाता है। आत्मामें विश्वास करनेसे मनुष्यको अपने जीवनके स्थायित्वमें विश्वास होता है। वह इस जन्ममें जो कुछ करता है उसका अच्छा फल उसे अगले जन्ममें अच्छे वातावरण और परिस्थितियोंमें ले जाता और रखता है या पैदा करता हैं।

आत्मामें तो अनंतगुण, शक्ति और आनन्द हैं। इनका विकाश करनेके लिए शुद्ध-ज्ञान-पूर्वक, ध्यान, अभ्यास, अध्यवसाय और चेष्टाका सतत होना आवश्यक हैं। ऐसे दृढ लगन युक्त प्रयत्न द्वारा भी यदि सफलता न मिले तो उसमें कहीं दोष या कमीका होना ही कारण हो सकता हैं। दोष या कमीको ढूंढ कर उसे दूर करना चाहिए। बार बार लगातार कोशिश और अभ्यास करनेसे ही कुछ उचित फलकी उपलब्धि हो सकती हैं। शरीरिक अवस्थामें या गार्हस्थ्यमें मन ही ध्यानका आधार हैं। मन बड़ा ही चंचल है। इसका स्थिर होना

* देखो, मेरा लेख "शरीर का रूप और कर्म, जो अखिल विश्व जैन मिशनसे ट्रैक्टरूपमें अमूल्य प्राप्त हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या करना आसान काम नहीं। यदि आरम्भमें सफलता न मिले तो उससे निराश होनेकी जरूरत नहीं। चेष्टा सतत जारी रखना ही वांछनीय है। यही सारी सफलताओं-की कुंजी हैं। ब्रह्मचर्य आदि गुण भी साधना की पूर्णता और पूर्ण सफलताके लिए आवश्यक हैं। वर्तमान कालमें ब्रह्मचर्य और संयम आदि की बड़ी कमी हैं इस कारण जब लोग सफल नहीं होते तो अपना दोष न देखते हुए और उस कमीको दूर न करते हुए आत्मा और आत्म-शक्तियोंमें ही अविश्वास करने लगते है। यह गलती हैं। इसका सुधार आवश्यक है। आत्मा की शक्तियोंमें विश्वास होनेसे ही व्यक्ति अपनेमें विश्वास रखता है और दृढतासे कार्य करते हुए सफल और उन्नत भी हो सकता है।

एक व्यक्ति जो अपनेको किसी पर्वतकी ऊँची चोटी पर चढ़ सकने योग्य नहीं समझता वह चढ़नेकी चेष्टा ही नहीं करेगा, चढ़ना तो दूर ही रहा। दूसरा जो अपनेको इस योग्य समझता है प्रयत्न करेगा और चढ़ जायगा।× इसी तरह आत्मा की अनंत शक्तियोंमें विश्वास करने-वाला अपनी शक्तियोंको उत्तरोत्तर बढ़ानेमें प्रयत्नशील भी होगा और बढ़ा भी सकेगा। आत्मा को परमशुद्ध समझकर ही पूर्ण विश्वासके साथ उपयुक्त चेष्टा और कोशिशसे परमशुद्धता भी प्राप्त हो सकती है। जिस व्यक्तिका ध्येय दसमील तक ही जानेका होगा वह आगे नहीं जायगा पर जिसका ध्येय सौ मील जानेका होगा वह दसमील तो जायगा ही और आगे भी जायगा। उच्च ध्येय रखना ही उच्चताको पहुँचा सकता है। हां, आत्मा-की अनन्त शक्तियां शरीरकी सीमित शक्तियोंके कारण ही सीमित हैं इससे पूर्णता एकाएक नहीं प्राप्त हो सकती। केवल यही समझकर कि आत्मा अनन्त शक्ति-मान है, इसीलिए यह समझना और मान लेना कि मनुष्य भी अनन्त शक्ति वाला है और वैसा व्यवहार करने लगना मूर्खता, भ्रम और पागलपन कहा जायगा। मनुष्य की शक्तियाँ (या किसी भी जीवधारी शरीर-धारीकी शक्तियां) उसके शरीरका बनावट, गठन और योग्यताके अनुसार ही हो सकती हैं। शारीरिक शक्तियोंका विकाश अभ्यास और उपयुक्त आचार-व्यवहारादिसे बढ़ता है। रोग शक्तियोंका ह्रास भी करता है। जप, तप, ध्यान, धर्म ज्ञानकी वृद्धि इत्यादि सभी कुछ शरीर द्वारा ही होते हैं। बगैर उपयुक्त और सुयोग्य शरीरके कुछ भी सम्भव नहीं है। आत्म-साधन भी शरीरके माध्यमसे ही सम्भव है, इसलिए शरीरको स्वस्थ और साधनके योग्य बनाए रखना हमारा कर्तव्य है। शरीरको नष्ट करने या कमजोर करने या अंग-भंग करनेसे सिवा हानिके लाभ नहीं है।

जैसे तरह तरहके बिजलीके यन्त्र और मशीन तरह तरहके कार्य केवल बनावटों की विभिन्नताके कारण ही करते हैं—यद्यपि विद्युत्शक्ति उनमें एक ही या एक समान ही होती है। उसी तरह आत्मा सभी शरीरोंमें समान गुण वाला होता हुआ भी विभिन्न शरीरों या शरीर धारियोंके कर्म या कार्य उन शरीरोंकी बनावटोंके अनुसार ही होते हैं। पर ये कार्य भी जब तक आत्मा उन शरीरों-में (बिजलीके यन्त्रोंमें बिजलीकी शक्तिके समान) वर्तमान रहता है तभी तक होते हैं—आत्माके निकलते ही सारे कार्य बन्द हो जाते हैं। किसी जीवधारीके शरीरमें और किसी विद्युत यन्त्रमें यह भेद है कि यन्त्र जड है और जीवधारी चेतनामय है, विद्युत शक्ति भी स्वयं पुद्गल (Matter या जड) निर्मित है जब कि आत्मशक्ति ज्ञान-चेतना-मय है। यन्त्रोंमें बिजली यन्त्रोंका निर्माण होने पर बाहरसे प्रवाह की जाती है जब कि शरीरधारियों का शरीर आत्माके साथ ही उत्पन्न होता और बढ़ता है—इसीसे बिजलीको हम देखते और मानते हैं पर आत्मा-को नहीं देख पाते—केवल ज्ञान-चेतना होनेसे ही ऐसा मानते है कि आत्मा है। बिजलीका प्रवाह यन्त्रोंमें विद्य-मान रहने पर जैसे यन्त्र अपने आप कार्य करते हैं पर कहा जाता है कि विद्युत-शक्ति सारे काम कर रही है उसी तरह आत्माके शरीरमें विद्यमान रहने पर आत्माको कर्ता कहते हैं। पर बिजलीकी मशीन ही कार्य करती हैं, बगैर यन्त्रोंके बिजलीसे स्वयं कोई कार्य होना संभव नहीं था—उसी तरह जीवधारियोंके शरीर ही कार्य करते हैं बगैर शरीरके आत्मासे भी कुछ होना संभव नहीं था। मानवका शरीर मानवोचित कर्म करता है, घोड़ेका शरीर घोड़ेके कर्म, किसी पक्षीका शरीर उस पक्षीके

× हालमें ही संसारकी सबसे ऊँची पर्वत चोटी इव-रेस्ट पर चढ़ने वालोंके विवरण अखबारोंमें निकल रहे हैं—अपने को उस कार्यके योग्य समझकर चेष्टा करनेसे ही ये लोग अन्तमें सफल हुए हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म या किसी कीड़ेका शरीर उस कीड़ेके कर्म करता है । इत्यादि ।

कर्मोंके अनुसार कार्माण शरीरमें परिवर्तन होता रहता है । अनादिकालसे अबतक परिवर्तन होते होते ही किसी जीवधारीका कार्माण शरीर उस विशेष आत्माको लिए हुए उस जीवधारीके उस शरीरके विशेष रूपमें संगठित और निर्मित हुए रहनेका मूल कारण है । विभिन्न व्यक्तियोंकी विभिन्न प्रवृत्तियों और योग्यताओंकी विभिन्नताओंका भी यही मूल कारण है । अनादिकालसे अब तक संगठित न जाने किस कर्मपुंजके प्रभावमें कोई व्यक्ति कोई कर्म करता है । विभिन्न कर्म पुंजोंका सम्मिलत संगठित शरीर ही कार्माण शरीर है । कार्माण शरीर भी पुद्गल-निर्मित ही है । (कार्माण शरीरकी बनावट और उसमें परिवर्तनादिकी जानकारीके लिये जैन शास्त्रोंका मनन करें और मेरा लेख 'कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण' देखें जो 'अनेकान्त" की गत किरणमें प्रकाशित हो चुका है ।)

कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्म जो भी होते हैं वे पुद्गल-द्वारा ही होते हैं । आत्मा स्वयं कर्म नहीं करता । आत्माका गुण कर्म करना नहीं है । आत्माका गुण तो 'ज्ञान' है । ज्ञानका अर्थ है जानना । आत्माका यह गुण सर्वदा आत्मामें ही रहता है और इसी कारण ही जीवधारियोंमें ज्ञान या चेतना रहती या होती है । जडवस्तु 'जड' है और यह जडत्व ज्ञान शून्यता, या चेतना हितता गुण सर्वदा जड या पुद्गल (Matter) में ही रहता है । हलन चलन या कर्मोंका आधार भी जड ही है । संज्ञान कर्म या संज्ञान हलन चलन या सचेतन क्रियाकलाप आत्मा और जडके संयुक्त होनेके कारण ही होते हैं । अन्यथा केवल मात्र जड वस्तुओंके कर्म या हलन-चलन इत्यादि चेतना-रहित ही हो सकते हैं या होते हैं । टेलीफोन या रेडियो यन्त्रसे शब्द निकलते हैं पर वे स्वयं कुछ समझ नहीं सकते—उनमें यह शक्ति या गुण ही नहीं है । इसी तरह फोटो इलेक्ट्रिक सेल या टेली विजन तरह तरहकी रूपाकृतियोंका साक्षात दृश्य उपस्थित करते हैं पर स्वयं कुछ भी नहीं जान, समझ देख, या अनुभव कर सकते । अनुभव तो वही कर सकता है जिसमें चेतना हो । अनुभव या ज्ञानकी कमी वेशी चेतना कराने वाले आधारों या माध्यम स्वरूप शरीरों या इन्द्रियों की बनावटों और योग्यताओं पर निर्भर करती है ।

सब कुछ होते हुए और पुद्गल शरीरके साथ रहकर अनादि कालसे कर्म करते हुए भी आत्मा आत्मा ही रहता है और जड जड ही रहना है, एवं आत्माके गुण ज्ञान-चेतना आत्मामें ही रहते हैं और ज्योंके त्यों रहते हैं तथा पुद्गलके गुण-जडत्व अथवा हलन-चलन इत्यादिकी योग्यता पुद्गलमें ही रहते हैं और ज्योंके त्यों रहते हैं । न आत्माके गुण पुद्गलमें जाते हैं न पुद्गलके गुण आत्मामें । आत्मा सर्वदा शुद्ध ज्ञान चेतना-मय ही रहता है ।

यदि आत्मा पुद्गलके साथ अनादिकालसे नहीं रहता तो उसे अलग करने या होनेकी जरूरत नहीं होती । दोनोंके गुण और स्वभाव भिन्न भिन्न हैं इससे दोनों अलग अलग हो सकते हैं और होते हैं । आत्माका पुद्गलसे छुटकारा या मुक्ति या मोक्ष हो जाना ही या पा जाना ही आत्माका 'स्व-भाव' और किसी जीवधारीका परम लक्ष्य या एक मात्र अन्तिम ध्येय है । मोक्ष पा जाने पर आत्माकी क्या दशा होती है या वह क्या अनुभव करता है इस पर शास्त्रोंमें बहुत कुछ कहा गया है यहाँ उसे दुहराना इस छोटे लेखमें सम्भव नहीं है । आत्मा पुद्गलसे छुटकारा पाकर ही अपने शुद्ध स्व-भावमें स्थिर होता है; यही वह अवस्था है जिसे पूर्णज्ञानमय-निर्विकार-परमानन्द अवस्था कहते हैं । यहाँ कुछ भी दुख क्लेशादि रूप सांसारिक अनुभव नहीं रह जाते । आत्मा स्वयं अपनेमें लीन स्वाधीन स्व सुखका शाश्वत अनुभव करता है । यह वह पूर्णता है जहाँ कोई कमी, कोई बाधा, कोई इच्छा, कोई चिन्ता, कोई संशय, कोई शंका, कोई भय, कोई बन्धनादि एकदम नहीं रह जाते । आत्मा पूर्ण निर्विकल्प सत-चित् आनन्द परमात्मा हो जाता है ।

आत्माको पुद्गलसे छुटकारा दिला कर इसी परमात्मा पदकी प्राप्तिके लिए ही विश्व या संसारकी सारी सृष्टि है और इस सृष्टिका सब कुछ होता या चलता रहता है । सृष्टिका एक मात्र ध्येय ही यही है, अन्यथा सृष्टिका कोई अर्थ ही नहीं होता । सृष्टि या विश्व या विश्वमें विद्यमान सब कुछका होना सत्य, शाश्वत और साधार है और इसी लिए सार्थक है । इसे असत्य, क्षणभंगुर या कोरा नाटक समझना गलती, मिथ्या, और भ्रम है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा और पुद्गल स्वयंभू, स्वयं अवस्थित हैं। न इन्हें किसीने उत्पन्न किया न कोई उन्हें नष्ट कर सकता है। ये सर्वदासे हैं और सर्वदा रहेंगे। न कभी इनकी संख्यामें कमी होगी न बढ़ती। आत्मा-पुद्गलके अनादि-सम्बन्धसे जब छुटकारा पाता है तो अपने स्व-स्वभावमें स्थिर होता है, अन्यथा आत्मा सर्वदा पुद्गलके साथ ही रहता है। आत्माका-पुद्गलसे छुटकारा केवल 'पूर्णता' होने पर ही हो सकता है। ज्ञानकी पूर्णता ही वह पूर्णता है जहां कुछ जाननेको बाकी नहीं रह जाता।

हम संसारमें रह कर सारी सृष्टिकी मददसे ही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं और वह पूर्णता ही मोक्ष है। यही मानव-जन्म लेने या पानेका भी एकमात्र आदर्श ध्येय और चरम लक्ष्य है। जो व्यक्ति इस ध्येयको या लक्ष्यको सम्मुख रख कर संसारमें 'संचरण' करता है वही सतत प्रयत्न-द्वारा उत्तरोत्तर ऊपर उठता उठता एक दिन इस 'पूर्णता' को प्राप्त कर मोक्ष पा जाता है। ❀

संसारकी सारी विडम्बनाएं, दुःख शोक, रगड़े झगड़े ठगहाई, युद्ध, रक्तपात, हिंसादि केवल इसी कारण होते हैं कि मनुष्य अब तक 'आत्मा' की महत्ता या महानताको ठीक ठीक नहीं जान या समझ सका। आधुनिक विज्ञानने इतनी बड़ी उन्नति की पर वैज्ञानिक स्वयं नहीं जानते कि:—वे क्या हैं? कौन हैं? उनके जीवनका अन्तिम लक्ष्य क्या है? इत्यादि। विभिन्न धर्मों और दर्शन-पद्धतियोंने एक दूसरेके विरोधी विचार संसारमें प्रचारित करके बड़ा ही गोलमाल और गड़बड़ फैला रखा है। इन विभेदोंके कारण लोग एक सीधा सच्चा मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर पाते और भ्रममें भटकते ही रह जाते हैं। अब आवश्यकता है कि विचारक लोग आधुनिक विज्ञानके आविष्कारों और प्राप्त फलोंकी सहायता से बुद्धिपूर्ण सुतर्क द्वारा 'आत्मा' के अस्तित्व और उसकी महानताका प्रतिपादन करें और लोगोंमें इस धारणाका पूरा विश्वास बैठादें कि हर एक व्यक्तिमें अनन्त शक्तियों-का धारी पूर्ण ज्ञान वाला शुद्ध आत्मा अन्तर्हित है। व्यक्तियोंके भेद या भिन्नताएं केवल शरीरोंकी विभिन्नता-ओंके ही कारण हैं। सबमें समान चेतना है। सबके दुख-सुख समान हैं इत्यादि। एवं सभी इस अखिल विश्वके प्राणी और एक ही पृथ्वी पर पैदा होने तथा रहनेके कारण एक दूसरेसे घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित एक ही बड़े कुटुम्बके सदस्य हैं। सबका हित सबके हितमें सन्निहित है। आत्माएं तो अलग अलग हैं पर पुद्गल शरीरों या पुद्गलका सम्बन्ध परमाणु रूपमें भी और संघ रूपमें भी सारे संसार और सारे विश्वसे अक्षुण्ण, अटूट और अविच्छिन्न है। संसारमें स्थायी शान्ति, सर्व साधारणकी समृद्धि और सच्चे सुखकी स्थापना सार्वभौमरूपमें ही हो सकती है। व्यक्तिगत या अलग अलग देश भौतिक (Material) उन्नति भले ही करलें पर वह न सच्ची उन्नति है न उनका सुख ही सच्चा सुख है। सच्चा सुख, सच्ची उन्नति और सच्ची एवं स्थायी शान्ति तो तभी होगी जब सभी मानवोंमें समान आत्माकी अवस्थिति समझ कर सबको उचित एवं समान सुविधाएं दी जायँ और सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समानताएं अधिकसे अधिक सभी जगह सभी देशोंमें सभी भेदभावके विचार दूर करके संस्थापित, प्रवर्तित और प्रवर्धित की जायँ। यही मानव धर्म है, यही जैन धर्म है, यही वैष्णव धर्म है, यही हिंदू धर्म है, यही ईसाई धर्म है—यही सच्चा है, चाहे इसे जिस नामसे सम्बोधित किया जाय या पुकारा जाय।

धर्मगुरुओं और संसारके विद्वानोंका यह कर्तव्य है कि अब इस विज्ञान सत्य-बुद्धिऔर तर्कके युगमें रूढ़िगत गलत मान्यताओंको छोड़कर आपसी विरोधोंको हटावें और मानव मात्रको सच्चे हितकारी अविरोधी आत्मधर्मकी शिक्षा देकर संसारको आगे बढ़ावें और अखिल मानवताका सचमुच सच्चा कल्याण करें।

❀ संक्षेपमें यही 'जैन शासन' है। यही जैन शासनका ध्येय, या सारांश है; और यही 'जैन शासन' के प्रतिपादन या प्रवर्तनका अर्थ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति,आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बो० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी पत्नी डा० श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजो, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली । मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग [illegible] रियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org